आयुर्वेदीय
* पदार्थ विज्ञान *
तथा
आयुर्वेद का इतिहास
लेखक :
डा० सुरेशानन्द थपलियाल शास्त्री,
आयुर्वेदाचार्य बी० आई० एम० एस०
प्राध्यापक ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज, हरिद्वार ।
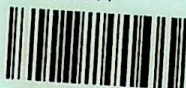
आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान

आयुर्वेद का अवतरण–

ज्ञान का भण्डार वेद है, वेद का अर्थ ज्ञान है, यह किसी का बनाया हुआ नहीं है। अर्थात अनादि काल से ज्ञान, परम्परा रुप से अवाधगति से चला आ रहा है। इस ज्ञान का उच्चारण प्रथम ब्रह्मा के मुख से हुआ है, किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिऐ कि वेदों को ब्रह्मा ने बनाया है। ये श्वास प्रश्वास के समान ब्रह्मा के मुख से उच्चारित हुये अत: अनादि हैं। ऐसा वर्णन यत्रतत्र भारतीय शास्त्रों-इतिहासों में प्राप्त होता है। आयुर्वेद का प्रसार विश्व में किस प्रकार हुआ इसका वर्णन चरक सुश्रुतादि ग्रन्थों में दिया गया है। जैसे—ब्रह्मा से अश्विनी कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने प्राप्त किया। ब्रह्मा और अश्विनी, इन दोनों के मध्य प्रजापति का उल्लेख है। किन्तु प्रजापति का तात्पर्य किसी ने दक्ष प्रजापति किया है। वैसे प्रजापति ब्रह्मा को भी कहते है। परन्तु आयुर्वेद के इतिहास के सम्बन्ध में सभी ने इसी परम्परा का उल्लेख किया है कि ब्रह्मा से प्रजापति, प्रजापति से अश्विनी कुमार और अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। यहां तक यह ज्ञान स्वर्गलोक में ही था। पुनः जब मृत्युलोक में प्राणिमात्र आधिव्याधि युक्त हो गये तो तत्कालीन ऋषियों ने इन व्याधियों से मुक्त होने के उपायों का चिन्तन किया। चिन्तन से विदित हुआ कि रोग नाशन का उपाय आयुर्वेदइस समय इन्द्र के पास है। प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव से युक्त भारद्वाज ऋषि इन्द्र के पास गये और उन्होंने इन्द्र से साङ्गोपाङ्ग आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण कर मृत्युलोक में आयुर्वेद का प्रचार किया।

आयु का लक्षण–

आयु तथा वेद इन दो शब्दों का संयोग आयुर्वेद है। शरीर, इन्द्रिय सत्व और आत्मा इनके संयोग को आयु कहते है। धारि, जीवित, नित्यग और अनुबन्ध ये आयु के पर्याय हैं।

> शरीरेन्द्रिय सत्वात्मा संयोगो धारि जीवितम्।
> नित्यगश्चानुवन्धश्च पर्यायैरायुरुच्वते ॥

व्याकरण की दृष्टि से आयु की व्युत्पत्ति "एति = गच्छति-इति आयुः तथा अयनमायुः" है। इससे स्पष्ट है कि पञ्चमहाभूत और चेतना का संयोग जब गर्भ में होता है तब से लेकर स्थूल देह परित्याग (मृत्यु) पर्यन्त के जीवन को आयु कहते हैं। यह जीवन सुखी और दुःखी दोनों प्रकार का हो सकता है। यदि इस जीवन को सुचारु रुप से चलाने केलिये धनधान्य सम्पन्नता है तो यह सुखायु और निर्धनता से दुखायु होती है यह सुखकर आयु भी यदि धन सम्पत्ति का उपार्जन यश कीर्ति से किया जाये सुख के साथ हितकर है किन्तु यदि धन सम्पत्ति निन्दित कर्मो के द्वारा प्राप्त हुई है तो सुखी आयु भी अहितकर समझनी चाहिये इसी प्रकार दुःखायु अहितायु और दुःखायु हितायु भी होती है। आयु को इस युग में १०० वर्ष प्रमाण माना गया है। यह शारीरिक लक्षणों केआधार पर भी अल्पायु-दीर्घायु एवं मध्य मायु हो सकती है। इन्हीं कारणों को दृष्टिगत रखते हुये महर्षि अग्निवेश ने आयुर्वेद का लक्षण इस प्रकार किया है—

आयुर्वेद का लक्षण——

हिताहितं सुखं दुःख मायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥

संक्षेप में आयु का ज्ञान करानेवाला शास्त्र आयुर्वेद कहलाता है आयु के लिये कौन पदार्थ एवं गुण कर्मादि हितकर और कौन अहित कर है, किन कारणों से आयु दीर्घ, अल्प और मध्यम होती है, इस प्रकार का वर्णन जिस शास्त्र या तन्त्र में किया गया हो वह आयुर्वेद कहलाता है। यह शास्त्र दो प्रकार के प्रयोजन सिद्ध करता है। प्रथम प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति को दिनचर्या रात्रिचर्या ऋतुचर्या आदि स्वस्थ वृत के नियमों का निर्देश करता है। इससे स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश प्राप्त होता है। यह प्रधान उद्देश्य आयुर्वेद का है। परन्तु नियमानुकूल चलने पर भी मनुष्य अल्पज्ञ होने से किसी प्रकार व्याधि ग्रस्त हो जाये तो उस व्यधि को औषधादि चिकित्सा द्वारा दूर करना आयुर्वेद शास्त्र का दूसरा प्रयोजन है।

इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धि बिना पदार्थ ज्ञान के नहीं हो सक[illegible] क्योंकि पुरुष जिन पदार्थों के संयोग से शरीर धारण किये हुये है उन पदा[illegible] में निरन्तर परिवर्तन होने के कारण विषमता होती रहती है। इस विष[illegible] को दूर करने के लिये उन पदार्थों का ज्ञान अत्यावश्यक होता है। यह वि[illegible] संसार जिन पदार्थों का विस्तार है उनके यथार्थ ज्ञान से ही सृष्टि और [illegible] प्राप्ति का ज्ञान हो सकता है। इसलिये भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों दृ[illegible] से पदार्थ विज्ञान का विशेष महत्व है, क्योंकि आयुर्वेद चि[illegible]

शास्त्र है इसलिए आयुर्वेदाध्ययन और अध्यापन करने वालों के लिये आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान का विशेष महत्व है। इसलिए आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता में सवप्रथम पदार्थों का ही वर्णन किया गया है।

महर्षि भारद्वाज जब इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त कर आये तो उन्होंने सम्पूर्ण ऋषियों के मध्य ध्यानावस्थित होकर ज्ञानवक्षुओं से ६ प्रकार के पदार्थों को ही देखा जिसका वर्णन इस प्रकार है :--

महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञान चक्षुषा ।
सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान्द्रव्याणिकर्मच ॥
समवायञ्च तज्ज्ञात्वातन्त्रोक्त विधिमाश्रिता ॥ चरक सू. १॥

इस आयुर्वेद विज्ञान का प्रचार एवं प्रसार भारद्वाज से पुनर्वसु आत्रेय और आत्रेय से अग्निवेश, भेल, जतुकर्ण, पराशर हारिततथा क्षारपाणि नामक शिष्यों ने अपनी अपनी सहिताएं रचकर किया। दूसरी ओर शल्यविज्ञान का प्रचार हुआ, जिसको इन्द्र से धन्वन्तरि, सुश्रुत, औपधेनु, औरभ्र, पौष्कलावत् करवीर्य, वतरण. गोपुररक्षित आदि ऋषियों ने शल्य चिकित्सा नाम से प्रचार किया इस प्रकार चिकित्सा शास्त्र प्रारम्भ से ही दो विभागों में साथ-२ अग्रसर हुआ। भारद्वाज प्रभृति सम्प्रदाय काय चिकित्सक तथा धन्वतरि प्रभृति सम्प्रदाय शल्य चिकित्सक नाम से प्रसिद्ध हुये। प्राचीन काल में दोनो चिकित्साएं परम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थीं, परन्तु इतिहास बताता है कि जब से भारत पर विदेशियों का साम्राज्य हुआ तथा भिन्न २ धर्मों का प्रचार हुआ तो उसका प्रभाव इस देश की अन्य विद्याओं के साथ चिकित्सा विज्ञान पर भी विशेष रूप से पड़ा। अंग्रेजी साम्राज्य स्थापित होते ही इस देश की चिकित्सा व्यवस्था दुर्दशा को प्राप्त होती गई, राज्याश्रय समाप्त हो गया। परन्तु विज्ञान सत्यस्वरूप होता है अतः वह नष्ट नहीं हो सकता है। भारत के धनीमानी धर्मप रायण व्यक्तियों के आश्रय से कुछ सज्जनों ने इसका अध्ययन अध्यापन कर आयुर्वेद को जीवित रखा। जबसे भारत स्वतन्त्र हुआ तो आयुर्वेदज्ञों ने इसके उद्धार हेतु प्रयत्न किये, अब कुछ प्रगति होनी प्रारम्भ हुई है किन्तु जब तक आयुर्वेद के मूल आधारपर प्रगति नहीं की जाती तब तक आयुर्वेद का वास्तविक विकास हाना सम्भव नहीं है। कोई भी विज्ञान अपने आधारभूत सिद्धान्तों पर ही अग्रसर हो सकता है आधार जितना सुदृढ़ होगा उतना ही सम्बन्धित विज्ञान भी सुदृढ़ होगा अतः अब आवश्यकता इस बात की है कि आयुवेदाध्ययन करने से पूर्व उसके मूल सिद्धान्तों (दर्शनों) का सम्यग् ज्ञान किया जाये तभी आयुर्वेद के यथार्थ अर्थ का लाभ हो सकेगा।

भारतीय दर्शन

प्रत्येक विज्ञान अपने निश्चित सिद्धान्तों पर अग्रसर होता है। चिकित्सा शास्त्र भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। और इसका भी अपना एक आधार है। ऐलोपैथी का आधार रसायन शास्त्र भौतिक विज्ञान जोव विज्ञान है। इसी प्रकार आयुर्वेद का आधार भूत सिद्धान्त दर्शन है, क्योंकि आयुर्वेद वेद का अंग है अत: प्राचीनकाल से ही संसार में प्रचालित है। इसका वर्णन दार्शनिक भाषा में किया गया है। वास्तव म हमारा देश अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर ही विश्व के समस्त देशों में ख्याति प्राप्त माना जाता है। महर्षि मनु के कथनानुसार इस देश के प्राचीन ऋषियों से संसार केसम्पूर्ण मानवों ने अपने २ चरित्र का निर्माण करना सीखा, यह नितान्त सत्य है।

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन: ।
स्वंस्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा: ।।मनु ।।

यही कारण होगा कि जिससे भगवान राम, कृष्ण आदि इसी भारत-भूमि पर अवतरित हुये। इस देश की आध्यात्म विद्या सभी विद्याओं में श्रेष्ठ मानी जाती है।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति-

दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। अत दर्शन का अर्थ है, वह साधन जिसके द्वारा तात्विक ज्ञान प्राप्त किया जाये। वैसे साधारण ज्ञान तो प्राणिमात्र में होता है परन्तु सभी प्राणियों में आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि क्रियायें समान होने पर भी मनुष्य में धर्म अर्थात् धारण करने वाली वस्तु सारासार का विचार (दर्शन) विशेष रूप में होता है। इसी लिये मनुष्य श्रेष्ठ प्राणि है। इसी विशेष विचारशील ज्ञान के आधार पर मनुष्य जीवन संग्राम में अग्रसर होता है।

आधुनिक विज्ञान दर्शन शब्द को फिलासफी शब्द से सम्बोधित करता है, यह शब्द ग्रीक भाषा का है और इसका प्रयोग सर्वप्रथम हिरोडोटस ने किया था। फिलासफी शब्द का अर्थ भी विद्या प्रेम या विद्या से अनुराग है। दर्शन ६हैं:- (१) न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य (४) मीमांसा (५) योग (६) वेदान्त परन्तु आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान वैशेषिक तथा सांख्य दर्शन के आधार पर विशेष रूप से आधारित है। वैशेषिक दर्शन के निर्माता महर्षि कणाद हैं। परन्तु विशेष नामक पदार्थ पर विशिष्ट कल्पना करने के कारण कणाद दर्शन को वैशेषिक दर्शन भी कहते हैं।

पाश्चात्य दर्शन–

प्राचीनकाल मे सर्वप्रथम दो देशों में ही तत्वज्ञान की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, भारत और यूनान। अत: इन्होने ही दर्शन के सम्बन्ध में विशेष खोज भी की। पाश्चात्य तत्वज्ञान के प्रचारक सुकरात माने जाते हैं। यवन देश के दार्शनिकों ने सर्वप्रथम सृष्टि तत्व की व्याख्या कर जगत को अनेकाकार ओर विषमता का विस्तार माना तथा इसकी उत्पत्ति में किसी एकाकार तत्व की कल्पना की। 'थेलीज' का कथन है कि वह मूल तत्व जल था। जल ठोस, द्रव और गैस तीनों अवस्थाऐं प्राप्त कर लेता है, और वानस्पतिक द्रव्यों का उत्पत्ति कारक भी है। यह मत वृहदारण्यक उपनिषद से मेल खाता है– "आप एवेदमत्रं आसुस्त आप: सत्यमसृजन्त, सत्य ब्रह्म प्रजापति, प्रजापति देवान्ते देवा. सत्यमेवोपासते" वृहदा० ५/५/१

एनेक्सिमेनीज के अनुसार मूलतत्व वायु माना गया है। पाइथोगोरस मूलतत्व प्रकृति को न मानकर 'आकार' को मानते हैं। इनकी कल्पना है कि सब पदार्थ केवल अंक हैं, ग्रीक भाषा में अंकों का प्रयोग बिन्दुओं से किया जाता था। बिन्दु से रेखा और रेखा से ठोस पदार्थ की उत्पत्ति होती है, अत: अंक को सम्पूर्ण पदार्थों की इकाई मानते है।

इटली के एलिया नगरवासी दार्शनिक अद्वेत के समर्थक माने जाते थे। इनके विपरीत हिरेक्लिटस 'अनेकवाद' के समर्थक हुये और वे अग्नि को जगत का मूल तत्व मानते थे। अनेकवाद के प्रचार का अन्तिम उत्कर्ष डिमाक्रिटस ने अपने परमाणुवाद द्वारा प्रदर्शित किया, डिमाक्रिटस 'भौतिक शास्त्र के जनक' माने जाते हैं। इनके परमाणुवाद के सिद्धान्त पर ही भौतिक शास्त्र की उन्नति हुई। ये परमाणुओं में आकर स्थान तथा रूप में भिन्नता मानते हैं परन्तु परमाणु को जड़ नहीं चेतन मानते हैं। इनके अनुसार परमाणु स्वत: क्रियाशील होते हैं।

पश्चात्य दर्शन के इतिहास में 'सुकरात' विशिष्ट विद्वान हुये इन्होंने वितण्डावाद का खण्डन कर दर्शन शास्त्र की फिर से नीव रखी, और ये सोफिस्ट कहलाये। सुकरात के मत में ज्ञान सर्वोपरि वस्तु थी, वे धर्म और ज्ञान को भी अभिन्न मानते थे। सुकरात के शिष्यों में प्लेटो श्रेष्ठ हैं। इन्होने जिन दो प्रकार की सत्ताओं को मान्यता दी वे ये हैं–(१) व्यवहारिक सत्ता और(२) वास्तविक सत्ता। व्यवहारिक जगत परिवर्तनशील और वास्तविक जगत एकाकार अपरिवर्तन शील है आदि।

विचारकों में 'अरस्तू' का स्थान भी प्रभावशाली विद्वानों में माना जाता है। ये अपने गुरु प्लेटो से अधिक अनुभवी एवं यथार्थवादी थे। ये महान् वैज्ञानिक भी थे। 'जीव विज्ञान' पर इनको खोज अधिक उपादेय है। संक्षेप में सुकरात प्लेटो और अरस्तु यूनान के महत्वशाली दार्शनिक थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में विज्ञान की प्रसंशनीय उन्नति हुई; विशेषकर जीव शास्त्र और वनस्पति शास्त्र पर अनेक अनुसन्धान किये गये। इसी समय दर्शनों पर भी अनुसन्धान हुये। दर्शनों का उत्थान तथा आध्यात्मवादी दर्शनों का अभ्युदय यूरोपीय देशों में होने लगा। इङ्गलैण्ड में ग्रीन और ब्रेडले ने आध्यात्मवाद का समर्थन करते हुये विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की। फ्रान्स में वर्गसो (Bergson) नामक दार्शनिक ने नवीन मार्ग निकाला, जिनके अनुसार जगत का मूलतत्व जीवन या प्राणशक्ति माना गया है। आध्यात्मवादियों के समान वर्णित इस सिद्धान्त को Elan vital. कहते हैं। जर्मनी में इसी समय नव्यकाण्ट मत का उदय हुआ और प्राणशक्तिवाद (Vitalism) का प्रचार किया गया। अमेरिका में जो विख्यात तत्व वेत्ता हुये उनका सिद्धान्त उपयोगितावाद या प्रेगमेटिजम कहलाता है। ये विलियमजेम्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। विलियमजेम्स के अनुसार संसार में जो वस्तु इच्छा की पूर्ति करती है अथवा हितसाधक है वही सत्य है वे ज्ञान की अपेक्षा क्रिया को अधिक महत्वशाली समझते हैं। सत्य की यही व्याख्या भारत के कई मान्य तत्व ज्ञानियों से मेल खाती है। महाभारत के अनुसार जो प्राणियों का अधिक हितकारक है वही सत्य है। "यद्‌भूतहितमत्यर्थमेतत् सत्यं मत मम्"। बुद्ध भी इसी मत के समर्थक थे। इस प्रकार तत्वज्ञानियों ने अन्वेषण किया और वास्तविकता का पता लगाने में अथक परिश्रम किया। अब पाश्चात्य विचारक भी धीरे २ भारतीय आध्यात्मवादियों के सिद्धान्तों की ओर आकृष्ट होने लगे हैं।

पदार्थ वर्णन

विविध मतानुसार पदार्थ का लक्षण–

वैशेषिक दर्शन को पदार्थ कहा जाता है क्योंकि इसमें मुख्यत: पदार्थों की विवेचना की गई है। महर्षि कणाद ने यहाँ तक कहा है कि इन्हीं पदार्थों के विशिष्ट ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु ये पदार्थ क्या हैं ? पदार्थ दो शब्दों के मेल से बना है, "पद" और "अर्थ" । अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति से सम्पन्न वर्णों के समुदाय को पद कहते हैं, यह विभक्ति युक्त होना चाहिए। पद समूह से जो भी अर्थ ज्ञान होता है उसे पदार्थ कहते हैं, अत: पदार्थ का अर्थ होता है वह वस्तु जिसके लिए शब्द प्रयुक्त होता है। नाम उसी वस्तु को दिया जा सकता है जिसे हम जानते हैं, हम उसी वस्तु को जान सकते हैं जिसकी सत्ता है।

दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि पदार्थ वह वस्तु है जिसमें ये निम्नलिखित तीन लक्षण पाये जाएं :—

(१) अस्तित्व (Exitens), (२) ज्ञेयत्व (Knowability) (३) अभिधेयत्व (Namability) अत: प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं कि :—

षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्व ज्ञेयत्वानि (पदार्थसंग्रह)
अभिधेयत्वं पदार्थ सामान्य लक्षणम् (तर्कदीपिका)
प्रमिति विषया: पदार्था: (सप्तपदार्थी)

पद या पदों का अर्थ पदार्थ कहलाता है। "पदस्यपदयो पदानाम्वाऽर्थ: पदार्थ:" पदार्थ के सम्बन्ध में सभी भारतीय दार्शनिकों ने समान रूप से अपने विचार प्रकट किये हैं, परन्तु पदार्थ के विभाजन और वर्गीकरण में अपने २ दृष्टिकोण के अनुसार परस्पर भेद हैं, फिर भी पदार्थ क्या है, इस सम्बन्ध में कोई मौलिक भेद नहीं है। सभी ने पद के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को ही पदार्थ कहा है। आयुर्वेद में पदार्थ वर्णन दो दृष्टिकोण से किया गया है :—

(१) सृष्ठि के भिन्न २ पहलुओं पर विचार कर उनका वर्गीकरण करने की दृष्टि से। (२) व्यवहारिकता की दृष्टि से अर्थात् आयुर्वेद शास्त्र के सूत्रों तथा पदों के अर्थ को समझने की दृष्टि से।

आयुर्वेद में पारिभाषिक शब्दों की अधिकता होने के कारण साधारणतया उनका अर्थ समझना कठिन है। दर्शन शास्त्र का ज्ञान होने से ही इन अर्थों का स्पष्टीकरण सम्भव है।

रामानुज मतानुसार पदार्थ तीन हैं—चित् अचित और ईश्वर। चित् का अभिप्राय भोक्ताजीव, अचित् का तात्पर्य भोग्य जगत् तथा ईश्वर से अभिप्राय सर्वान्तर्यामी से है। रामानुज की यह त्रिविध पदार्थ कल्पना श्वेताश्तर उपनिषद् के भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है। रामानुज के मत में जीव और जगत् वस्तुतः नित्य और स्मरान्त्र पदार्थ हैं किन्तु वे ईश्वर के आधीन रहते हैं।

माध्वमत (ब्रह्मसम्प्रदाय) में दस पदार्थों का वर्णन पाया जाता है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इनका विशिष्ट वर्णन "मध्वसिद्धान्तसार" में विस्तृत रूप से किया गया है। कुछ पदार्थ न्याय वैशेषिक से समानता रखते हैं किन्तु कुछ में माध्यमत के विशेषता है। निम्बार्क सम्मत पदार्थ चित्, अचित् तथा ईश्वर रामानुज की समान हैं।

पदार्थों की संख्या—

वैशेषिक मतानुसार पदार्थ ६ हैं:—(१) सामान्य (२) विशेष (३) गुण (४) द्रव्य (५) कर्म (६) समवाय। नव्यन्याय पदार्थों की संख्या ७ मानते हैं तथा उनका गणनाक्रम इस प्रकार है:— (१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय तथा (७) अभाव।

गौतम ने पदार्थ १६ माने है:—

(१) प्रमाण (Means of knowledge) (२) प्रमेय (Object of knowledge) (३) संशय (Doubt) (४) प्रयोजन (Purpose) (५) दृष्टान्त (Example) (६) सिद्धान्त (Conclusion) (७) अवयव (Members of Syllogism) (८) तर्क (Hypothesis) (९) निर्णय (Verification) (१०) वाद (Argument) (११) जल्प (Wrangling) (१२) वितण्डा (Sophistry) (१३) हेत्वाभास (Fellacy (१४) छल (Cavilling) (१५) जाति (Futile refutation) (१६) निग्रहस्थान (Points of difeat)

गौतम और कणाद ने भिन्न भिन्न अर्थों में पदार्थ शब्द का ग्रहण किया है। महर्षि कणाद के पदाथ सत्ता पदार्थ हैं और वे ६ प्रकार की मूल सत्ताओं को मानते हैं। जिनमें द्रश्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये षड्पदार्थ ही आते हैं।

परन्तु गौतम के पदार्थ प्रमाण शास्त्र के विवेचनसम्बन्धी विषय हैं। शुद्ध ज्ञान की समीक्षा के लिए किन २ विषयों को जानना आवश्यक है यही बताना गौतम का उद्देश्य है।

पदार्थों का विभाजन:–

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं– (१) भावपदार्थ (२) अभाव पदार्थ। भावपदार्थों के ६ भेद हैं–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय। अभाव दो प्रकार का है– (१) संसर्गाभाव (२) अन्योन्याभाव (१) संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है– (१) प्रागभाव (२) प्रध्वन्साभाव (३) अत्यन्ताभाव (१) वस्तु के निर्माण से पूर्व उस वस्तु का जो अभाव है उसे प्रागभाव कहते हैं। (२) निर्माण के पश्चात् वस्तु का टूट-फूट जाना प्रध्वन्साभाव कहलाता है। (२) जो वस्तु तीनों कालों में नहीं प्राप्त हो सकती जैसे खरगोश के सींग अत्यन्ताभाव हैं ! परन्तु वैशेषिक दर्शन इस विभाजन की आवश्यकता नही समझता उसका कथन है कि भाव पदार्थ के ज्ञान से अभाव पदार्थ का भी ग्रहण हो जाता हैं क्योंकि जिन इन्द्रियों द्वारा पदार्थ का ज्ञान होता है उनके अभाव का ज्ञान भी उन्हीं इन्द्रियों से हो जाता है, अत: अभाव को अतिरिक्त पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुत: अभाव पदार्थ है अथवा नहीं- यह पदार्थ की परिभाषा पर निर्भर करता है।

यदि हम पदार्थ से सत् ज्ञेय और अभिधेय अर्थ स्वीकार करे तो अभाव पदार्थ नही माना जा सकता क्योंकि वस्तु का न होना ही अभाव होता है। फिर वह पदार्थ कैसे हो सकता है ? परन्तु पदार्थ को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें तो अभाव भी पदार्थ के अन्दर आ जाता है अत: शिवादित्य महोदय की पदार्थ की परिभाषा व्यापक अर्थ में ही वर्णित है:–"प्रमिति विषया: पदार्था:" अर्थात् जो कुछ भी ज्ञान का विषय है चाहे संसार में उसकी सत्ता है या नहीं वह पदार्थ कहलाता है। इसलिए दोनों का वर्गीकरण अपने २ दृष्टिकोण से ठीक हैं।

क्या शक्ति अतिरिक्त पदार्थ नहीं हो सकता--

शक्ति भी एक अतिरिक्त पदार्थ है यह कल्पना मीमाँसकों ने की है। रोकने वाली शक्ति की उपस्थिति में किसी वस्तु कीं शक्ति अवरूद्ध हो जाती है, किन्तु उस रुकावट के अभाव में वह शक्ति पुन: प्रकट हो जाती है। जैसे चन्द्रकान्तमणि के समक्ष अग्नि की दाहिका शक्ति छिप जाती है। तथा चन्द्रकान्तमणि को हटा दें तो वह शक्ति पुन: प्रकट हो जाती है। इस व्याव. हारिक उदाहरण को लेकर मीमाँसक शक्ति को आंठवा पदार्थ मानते हैं। परन्तु वैशेषिकों का मत है कि किसी पदार्थ की कार्यकर शक्ति तभी कार्य करती है जब उसके सामने कोई प्रतिबन्ध न हो। तात्पर्य यह है कि शक्ति

प्रतिबन्ध के अभाव में ही कार्यकर है तो नैयायिकों ने अभाव को पदार्थ माना ही हुआ है। शक्ति का अभाव में अन्तर्भाव हो जाता है।

न्यायदर्शन तथा चरकोक्त पदार्थ गणना क्रम भिन्न २ क्यों है ?

न्यायदर्शन तर्क शास्त्र कहा जाता है इस दर्शन के अनुसार सात पदार्थ क्रमशः इस प्रकार है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय अभाव। उनका कथन है कि द्रव्य प्रधान पदार्थ है अन्य पदार्थ द्रव्य में ही पाये जाते हैं और उसी की विशेषता बतलाते है- जैसे गुण द्रव्य में ही आश्रित रहता है उससे पृथक गुण की अवस्थिति नहीं है। इसी प्रकार कर्म भी द्रव्य में ही पाया जाता है ये दोनों मिलकर दी द्रव्य की स्थिति बनाये हुये हैं। सामान्य भो द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों के समुदाय जिसे सत्ता कहते हैं में रहता है। अर्थात् जाति द्रव्य में ही पायी जाती है। जिस प्रकार सामान्य द्रव्य में रहता है उसी प्रकार विशेष भी द्रव्य से पृथक अस्तित्व नही रखता यानि विशेषता द्रव्यों में ही हो सकती है उपरोक्त गुण, कर्म, सामान्य विशेष द्रव्य में किस सम्बन्ध से अवस्थित हैं ? यही सम्बन्ध समवाय है, अर्थात् ये पदार्थ द्रव्य में समवाय (नित्य) सम्बन्ध से रहते हैं। यही तात्पर्य न्याय के गणना क्रम का है।

महर्षि चरक ने पदार्थो का परिगणन इस प्रकार किया है :-

सामान्यञ्च विशेषञ्च गुणान् द्रव्याणि कर्म च।
समवायञ्च तज्ज्ञात्वा तन्त्रोक्तं विधिमाश्रिताः ।। चरक ।।

क्योंकि आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र है, अतः पदार्थ वर्णन करते समय भी महर्षि चरक का यही दृष्टिकोण था, वास्तव में आयुर्वेद का प्रयोजन "स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्— आतुरस्य रोगविमोक्षणम्" अर्थात् स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और दूसरे नम्बर पर रोगी मनुष्य के रोग को दूर करना है यह प्रयोजन सामान्य तथा विशेष के विशिष्ठ ज्ञान से ही सिद्ध हो सकता है। शरीर में स्थित वातादि दोष एवं रसरक्तादि धातुएं समान अवस्था में रहे तब स्वस्थ, और विषम हो जायें तो रोग होता है। यह धातु साम्य और धातु वैषम्य किस सिद्धान्त पर निर्भर करते है ? यह सिद्धान्त सामान्य तथा विशेष पदार्थों पर आधारित है। नित्यप्रति उपयोग किये गये आहार द्रव्य द्रव्यतः, गुणतः, कर्मतः, सामान्य होंने से तत्तद भावों की वृद्धि एवं विशेष होने से सपस करते रहते हैं यही वृद्धि तथा ह्रास शरीर के विकास में कारण भी है। परन्तु जब वृद्धि अधिक और ह्रास कम या ह्रास अधिक और वृद्धि कम होती

है तब इसे विषमता जानना चाहिए। इस विषमता को दूर करने के लिए सामान्य विशेष को ध्यान में रख औषध का प्रयोग किया जाता है। बढ़े हुए दोषों को विशेष औषध द्वारा घटाना और घटे हुए दोषों को सामान्य औषध द्वारा बढ़ाना यही तो चिकित्सा का सिद्धान्त है।

सर्वदा सर्वभावानां सामान्य बृद्धि कारणम्।
ह्रास हेतुर्विशेषश्च प्रवृति रुभयस्य तु ॥ चरक ॥

वास्तव में शरीर एवं वाह्य संसार में वृद्धि तथा ह्रास पृथक् रूप में नहीं होते अर्थात् सामान्य पदार्थों से केवल वृद्धि और विशेष पदार्थों से ह्रास ही होता हो ऐसी बात नहीं है, अपितु यह वृद्धि तथा ह्रास एक साथ ही होते हैं। उदाहरणार्थ पित्त वर्धक पदार्थों का अधिक सेवन करने पर शरीर स्थित उष्मा बढ़ेगी तो साथ ही साथ पित्त का विरोधी कफ उतने ही अंस में कम हो जायेगा। वृक्ष से कबूतर उड़ा तो वृक्ष की डाल से उसका विभाग हुआ और जहाँ २ वह गया वहाँ २ उसका संयोग हुआ यह सयोग तथा विभाग जैसे एक साथ होता है वैसे ही वृद्धि के साथ २ दूसरी ओर ह्रास भी होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर में कभी एक दोष स्वतन्त्र रूप से विषम नहीं होता एक बढ़ता है दूसरा उसका विरोधी उतने हो अंस में घट जाता है इसी से दोषों की विषमता आंकी जाती है और रोगों को विविधता में भी यही कारण है। अशांश कल्पना से तीन ही दोषों से असंख्य व्याधियां उत्पन्न होती हैं। उपरोक्त श्लोक के "प्रवृत्तिरुभयस्यतु" का स्पष्टीकरण भी यही है। इस सभी वर्णन से यह भी विदित हो जाता है कि आयुर्वेद शास्त्र में पदार्थ विज्ञान की क्या आवश्यकता है।

पदार्थों का साधर्म्य

सात पदार्थों के समान धर्म इस प्रकार हैं— (१) ज्ञेयत्व, अर्थात् सभी पदार्थ ज्ञान के विषय हैं। (२) अभिधेयत्व, अर्थात् इनका नाम रखा जा सकता है। द्रव्य गुण, कर्म सामान्य और विशेष इन पांचों पदार्थों में अनेकत्व तथा समवायित्व समान रूप से रहते हैं। यथा—

द्रव्यादयः पञ्चभाबा अनेके समवायिनः।
सत्तावन्तस्त्रयस्त्वाद्या गुणादिनिर्गुणक्रियः॥ भा० प० १॥

द्रव्य नौ प्रकार के, गुण चौबीस प्रकार के, कर्म पाँच प्रकार के, सामान्य तीन प्रकार के तथा विशेष अनन्त होते हैं। इस प्रकार इनमें अनेकत्व धर्म

समान रूप से रहता है। द्रव्य, गुण और कर्म ये समवाय सम्बन्ध के अनुयोगी तथा सामान्य और विशेष समवाय सम्बन्ध के प्रतियोगी होने से समवायी कहलाते हैं।

सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन चारों की कोई जाति नहीं होती। अत: ये परस्पर सामान्यहीन होने से समान धर्मी हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु इन चारों के परमाणु एवं आकाश काल दिशा, आत्मा और मन ये नित्य द्रव्य हैं। नित्य द्रव्य किसी को अपेक्षा नहीं रखते किन्तु अनित्य कार्य द्रव्यों का अस्तित्व संयोग पर निर्भर होता है। इसी प्रकार गुण, कर्म, सामान्य विशेष आदि आश्रितत्व धर्मापेक्षी हैं।

सभी द्रव्यों का साधर्म्य – पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में द्रव्यत्व जाति और गुणवत्ता समान रूप में पाये जाते हैं।

"क्षित्यादीनाँ नवानां तु द्रव्यत्वं गुणयोगिता"—भा० प० २४ ॥

इसके अतिरिक्त पृथ्वी, जल, तेज वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में परत्व, अपरत्व, मूर्तत्व, क्रियावत्व एवं वेगवत्व समान रूप से पाये जाते हैं और आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा इन चारों में विभुत्व और परममहत परिमाण समान धर्म हैं। पृथ्वी जल तेज, वायु और आकाश इन पाँचों में भूतत्व अर्थात ऐसा विशेष गुण जिसका प्रत्यक्ष बाह्येन्द्रियों से होता है समान धर्म है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु इनमें स्पर्शवत्व तथा द्रव्यारम्भकत्व समान धर्म हैं।

आकाश और जीवात्मा का साधर्म्य—आकाश का विशेष गुण है शब्द, यह शब्द जिस समय कहीं पर उत्पन्न होता है उसी समय दूसरे स्थान पर नहीं रहता इसलिए शब्द अव्याप्य वृत्ति गुण वाला है। इसी प्रकार आत्मा के विशेष गुण ज्ञान, सुख दु:खादि हैं ये भी अव्याप्य वृत्ति वाले हैं। व्यापक आत्मा के यावत्प्रदेश में इनको व्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार शब्द तथा सुख दु:खादि गुण क्षणिक होते हैं। इसलिये आत्मा और आकाश के अव्याप्य वृत्तित्व तथा क्षणिकत्व समान धर्म हैं।

द्रव्य विज्ञान

पदार्थों में पहला पदार्थ द्रव्य है, अब प्रश्न उठता है कि द्रव्य कहते किसे हैं।

द्रव्य का लक्षण–

(१) कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रय भूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं अर्थात जो पदार्थ किसी गुण या क्रिया का आधार हो, उसे द्रव्य जानना चाहिए। क्रिया गुण द्रव्य में ही समवेत रह सकते हैं। अतएव द्रव्य, गुण तथा कर्म का समवायि कारण कहलाता है।

क्रियागुणवत् समवायिकारण मिति द्रव्य लक्षणम् ॥ वै० सू० ॥

(२) जिसमें संयोग विभाग का कारण परिस्पन्दन लक्षण कर्म और रूपादिगुण समवाय (नित्य) सम्बन्ध से आश्रित हों और जो कार्य द्रव्य के प्रति समवायि कारण है उसे द्रव्य कहते हैं।

यत्राश्रिता: कर्मगुणा: कारणं समवायियत् तद्रव्यम् ॥ चरक भू० ॥

संक्षेप में क्रियावान्, गुणवान् तथा कार्य द्रव्य के प्रति समवायि कारण होना, ये तीन लक्षण द्रव्य के हैं। अब द्रव्यों के वर्णन से पूर्व यह जानना भी अत्यावश्यक है कि द्रव्य का हमने जो लक्षण किया वह यथार्थ में ठीक है अथवा नहीं ? यह जानने के लिए इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि लक्षण क्या है।

लक्षण की परिभाषा–

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव ये तीन लक्षण के दोष हैं, जिस लक्षण में इनमें से कोई दोष नहीं होता वह निर्दोष लक्षण कहलाता है परन्तु ये तीन दोष क्या हैं इनका भी ज्ञान आवश्यक है।

अव्याप्ति–

"लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्ति." अर्थात लक्ष्य के एक भाग में घटकर अन्य भागों में न घटना अव्याप्ति दोष कहलाता है। जिसका लक्षण किया जाये वह लक्ष्य है। जैसे हम गाय का लक्षण कर रहे हैं और हमने कहा कि "कपिलत्वं गोत्वम्" अर्थात कपिलवर्ण की गाय होती है। इस लक्षण से काली सफेद, लाल रंग की गायों को गाय नहीं कह सकते अत: यह लक्षण केवल एक भाग कपिल वर्ण में ही घटा अन्य में नहीं इसको अव्याप्ति दोष जानना चाहिये।

अतिव्याप्ति--

"लक्ष्य वृत्तित्वसत्यलक्ष्य वृत्तित्वमतिव्याप्ति:" लक्ष्य में घटकर अलक्ष्य में भी लक्षण का पहुंच जाना अति व्याप्ति दोष है। जैसे गाय का लक्षण किया कि "श्रृंगित्वगोत्वम्" अर्थात सींग वाली गाय होती है। यह लक्षण गाय में घटकर भैंस, बकरी आदि में भी चला गया, क्योंकि सींग तो भैंस, बकरी के भी होते हैं अत: इसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं ।

असम्भव--

"लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भव:" लक्ष्य मात्र में लक्षण का न रहना असम्भव दोष है यथा—"गोरेकशफवत्वम्" अर्थात एक खुर वाली गाय होती है, क्योंकि गाय का एक खुर असम्भव है। एक खुर घोड़े का होता है गाय का नहीं। इसलिये गोमात्र में इस लक्षण का घटना असम्भव है ।

निर्दुष्ट लक्षण--

"लक्ष्यतावच्छेदक समनियतत्वं लक्षणत्वम्" अर्थात सम्पूर्ण लक्ष्य में असाधारण धर्म का समान रूप से रहना लक्षण कहलाता है। जैसे गो का निर्दुष्ट लक्षण है कि "साम्नादिमत्वं गोप्तम" सींग, पूंछ, दो खुर आदि के सहित गलकम्बल जिसमें पाया जाये वही गाय है ।

इसीलिए द्रव्य के लक्षण में यदि इतना ही कहते कि क्रियावान् द्रव्य होता है तो आकाश काल आतमा आदि द्रव्यों में अव्याप्ति हो जाती क्योंकि ये द्रव्य क्रियावान नहीं हैं तथा केवल क्रिया गुणवान यही लक्षण करते तो घट पट आदि कार्य द्रव्यों में अव्याप्ति दोष बना ही रहता अत: 'क्रियागुणवत् समवायि कारणत्व द्रव्यत्वम्' यह लक्षण किया गया। परन्तु इसमें भी ईश्वरात्मा में अव्याप्ति दोष बना ही रह जाता है क्योंकि वह कार्य मात्र का निमित्त कारण तो है किन्तु समवायि कारण नहीं है। इसीलिये "द्रव्यत्वजातिमत्वं द्रव्यत्वम्" यह द्रव्य का निर्दुष्ट लक्षण होता है ।

द्रव्यों की संख्या--

द्रव्य नौ हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आतमा (९) मन ।

महर्षि चरक का गणनाक्रम भिन्न है यथा—

खादीन्यात्मा मन: कालो दिशश्च द्रव्य संग्रह: ॥ चरक ॥

अर्थात--(१) आकाश (२) वायु (३) तेज (४) जल (५) पृथ्वी (६) आतमा (७) मन (८) काल (९) दिशा ।

महर्षि चरक ने यह क्रम सृष्टि के विकास के रूप में दिया है। सर्व प्रथम आकाश महाभूत था। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी महाभूत उत्पन्न हुआ। यह समस्त सृष्टि पाँच भौतिक हैं। इस सृष्टि के दो विभाग हो जाते हैं—(१) जड़ (२) चेतन। इन्द्रिय विशिष्ट सृष्टि चेतन तथा इन्द्रिय रहित सृष्टि अचेतन हैं।

इन उपरोक्त द्रव्यों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और मन ये पाँच द्रव्य ऐसे हैं जिनमें क्रिया तथागुण दोनों हैं। किन्तु शेष आकाश काल, दिशा और आत्मा केवल गुणवान् द्रव्य है, इनमें क्रिया नहीं होती। अर्थात गुण वाले सभी द्रव्य हैं किन्तु ५ द्रव्य सक्रिय और चार निष्क्रिय हैं।

क्या अन्धकार (छाया) दशवाँ द्रव्य हो सकता है ?

इस विषय को लेकर मनोरंजक प्रश्न उठाया गया है। कुमारिल भट्ट प्रभृत्ति मीमांसकों का मत है कि अन्धकार में गुण (कृष्णवर्ष) और क्रिया (गति) दोनों देखने में आते हैं इसीलिए उसे द्रव्य मानना पड़ेगा। क्योंकि अन्धकार उपरोक्त ९ द्रव्यों में किसी के अन्तर्गत नहीं आता। जैसे गन्धाभाव होने से पृथ्वी नहीं; रस का अभाव होने से जल नहीं, उष्मा का अभाव होने से अग्नि नहीं, स्पर्शाभाव के कारण वायु नहीं है। इसी प्रकार वह सक्रिय होने के कारण आकाश, काल, दिशा और आत्मा भी नहीं है। रहा मन, सो दिखाई देने के कारण अन्धकार मन के अन्तर्गत भी नहीं आता। अतः अन्धकार को दशवाँ द्रव्य मानना चाहिए।

खण्डन--

अन्धकार प्रकाश का अभाव मात्र है वह द्रव्य गुण कर्म कुछ भी नहीं हो सकता यदि कहें कि अन्धकार द्रव्य नहीं है तो उसमें चलने की क्रिया कैसे होती है इसके उत्तर में कणाद कहते हैं कि तेज को आवृत करने वाला जब कोई द्रव्य चलता है तब हमें जान पड़ता है कि छाया ही चल रही है। अतः अन्धकार में जो गति की प्रतीति होती है वह केवल भ्रम है - गति छाया में नहीं वस्तु में होती है। इसी मत का प्रतिपादन न्यायमुक्तावलो कार करते हैं कि अन्धकार में जो नीलत्व प्रतीति होती है वह भ्रम है। वस्तुतः अन्धकार कोई चीज नहो, इसीलिये उसका न कोई रूप है और न गुण प्रकाश का होना ही अन्धकार है। उसमें जो रूप दिखाई देता है वह आकाश की नीलिमा के समान आभास मात्र है। वास्तव में प्रकाश की सहायता से चक्षु रूपयुक्त द्रव्य को ग्रहण करता है, परन्तु अन्धकार को देखने के लिये प्रकाश की आवश्यकता

होती ही नहीं, अत: अन्धकार प्रकाश का ही अभाव है अतिरिक्त द्रव्य नहीं हो सकता। यथा –

आवश्यक तेजोऽभावेनैवोपपत्तौ द्रव्यान्तर कल्पनाया अन्याय्यत्वात्। रूपवत्ताप्रतीतिस्त भ्रमरूपा, कर्मवत्ता प्रतीतिरप्यालोकापसरणौपाधिकी भ्रान्तिरेब। तमसोऽतिरिक्त द्रव्यत्वेऽनन्तावयबादि कल्पनागौरवं च स्यात्।
न्याय मुक्तावली।

अन्धकार के स्वरूप का निर्णय करने में वैशेषिक दर्शन को समर्थ बतलाते हुये श्री हर्ष ने लिखा है कि—

ध्वान्तस्य बामोरु बिचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलुदर्शनं तत क्षमं तमस्तत्व निरूपणाय। नैषध॥

पृथ्वी निरुपण

पृथ्वी का लक्षण

पृथ्वी में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार गुण पाये जाते हैं किन्तु गन्ध पृथ्वी का विशेष गुण है। यह गुण और किसी द्रव्य में नहीं पाया जाता है केवल पृथ्वी में ही रहता है। अत: जहाँ किसी प्रकार का गन्ध-सुगन्ध या दुर्गन्ध पाया जाये वहाँ पृथ्वी का अस्तित्व समझना चाहिये।

(१) शंका-कुछ पार्थिव वस्तुओं में जैसे फूल या चन्दन में गन्ध पाया जाता है किन्तु सभी पार्थिब द्रव्यों में तो गन्ध नहीं पाया जाता जैसे साधारण पत्थर या मिट्टी को सूंघने पर गन्ध प्रतीत नहीं होती।

समाधान-पृथ्वी के अणुओं में किसी न किसी प्रकार का गन्ध अवश्य होता है कुछ गन्ध ऐसे होते हैं जो सदा सहज रूप में ही प्रत्यक्ष होते हैं, अर्थात वे द्रव्य में व्यक्त रूप में रहते हैं और कुछ ऐसे हैं कि अव्यक्त रूप में रहते हैं तथा परमाणुओं के बिखरने पर स्पष्ट होते हैं। जैसे पत्थर को आपस में रगड़ा जाये तो पत्थर की गन्ध स्पष्ट प्रतीत होगी।

किन्तु यही नहीं कभी कभी पृथ्वी से भिन्न द्रव्यों—जैसे जल और वायु में भी तो गन्ध पाया जाता है? गुलाब जल सुगन्धित और सड़ा हुआ जल दुर्गन्धित होता है। वायु सुगन्धित दुगन्धित दोनों प्रकार का होता है फिर गंध का आधार केवल पृथ्वी ही क्यों माना जाये?

समाधान—जल तथा वायु में जो सुगन्ध या दुर्गन्ध प्रतीत होती है वह उनकी स्वाभाविक गन्ध नहीं अपितु औपाधिक है। जब इनके साथ पृथ्वी के कणों का संयोग होता हैं तब उन्हीं कणों का गन्ध जल तथा वायु में प्रतीत होता है। पृथ्वी में लाल, पीला, नीला आदि जो अनेक रंग दिखाई देते हैं वे

सब पृथ्वी के ही रूप हैं। वैसे जल और अग्नि भी रूप वाले द्रव्य हैं किन्तु उनमें अनेक रङ्ग नहीं होते हैं, पृथ्वी अनेक रूप वाली है।

इसके अतिरिक्त पृथ्वी में मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय यह रस भी पाये जाते हैं इनका स्पर्श अनुष्णाशीत है।

तत्र क्षितिर्गन्धहेतु र्नानारूपवती मता।
षड्विधस्तु रसस्तत्र गन्धस्तु द्विविधोमतः॥
स्पर्शस्तस्यास्तु विज्ञेयोह्यनुष्णाशीत पाकजः॥ न्यायमुक्तावली॥

यह पृथ्वी परमाणु तथा कार्य रूप भेद से दो प्रकार की हैं। परमाणु रूप पृथ्वी नित्य और कार्य रूप पृथ्वी अनित्य होती है।
कार्य रूप पृथ्वी के तीन भेद हैं।

(१) शरीर संज्ञक (२) इन्द्रिय संज्ञक (३) विषय संज्ञक। शरीर संज्ञक पृथ्वी प्राणिमात्र का शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है। इन्द्रिय, गन्ध ज्ञान ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय है जो नासा के अग्रभाग में रहती है।

विषय मिट्टी पत्थर आदि नित्य प्रति उपयोग में आने वाले पदार्थ। शरीर दो प्रकार के होते हैं। "शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजम्" (१) योनिज (२) अयोनिज।

जिस शरीर की उत्पति गर्भाशय में रज और वीर्य के संयोग से होती है उसे योनिज कहते हैं। "शुक्रशोणित सन्निपात जन्य योनिजम्" (प्रशस्त-पादभाष्य) जो शरीर बिना रज वीर्य के संयोग हुए ही बन जाता है उसे अयोनिज कहते हैं।
योनिज शरीर के दो प्रभेद होते हैं —

(१) जरायुज—जरायुज शरीर वह है जो जरायु (जेर) या गर्भाशय में बनता है। जैसे मनुष्य और पशुओं का शरीर। (२) अण्डज—जो शरीर अण्डे के फूटने पर निकलता है। जैसे पक्षी, मछली आदि का शरीर।
अयोनिज शरीर के तीन प्रभेद होते हैं।

(१) स्वेदज—जो शरीर पसीने से बनता है। जैसे जूं खटमल आदि। (२) उद्भिज — जो पृथ्वी को फाड़कर निकलता है। जैसे लता वृक्षादि। (३) अदृष्ट विशेष जन्म—जो शरीर धर्म विशेष से स्वभावतः उत्पन्न होता है।

क्या बिना गर्भाधान के शरीर की उत्पत्ति सम्भव है? इसके उत्तर में न्याय कन्दलीकार कहते हैं कि गर्भाधान क्रिया में परमाणु विशेषों का संयोग होने से ही तो शरीर की उत्पत्ति होती है। शुक्रशोणित क्या है? भूतों के परमाणु ही तो हैं। विशेष २ परमाणुओं के संयोग से गुण विशेष का परिपाक होकर तथा परस्पर मिलकर शरीर बनता है। अतः शरीरोत्पत्ति गर्भाधान क्रिया पद नहीं अपितु परमाणुओं के सम्मिश्रण पर निर्भर करती है। इसलिए

देह रचना के लिए गर्भाशय अनिवार्य नहीं है । मैथुन क्रिया के बिना भी शरीरोत्पादन हो सकता है । इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं है ।

अहकारेभ्य: समभवदङ्गिरा: ।। तत्वावली ।।

जल निरूपण

जल का लक्षण—

समवाय सम्बन्ध से शीतल स्पर्श जिसमें विद्यमान हो उसे जल कहते हैं । जल में रूप, रस और स्पर्श ये गुण रहते हैं । अर्थात जल देखा जा सकता है, चखा जा सकता है, छुआ जा सकता है ।

जल की उत्पत्ति में स्पर्श तन्मात्रा की सहायता अपेक्षित है । व्यावहारिक रूप में भी देखा जाता है कि बिना गर्मी के द्रवता नहीं हो सकती ।

'ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रस गुण स्मृत:' (गत)

अग्नेराप: (तैत्तरीय उपनिषद्)

जल का स्वाभाविक रूप शुक्ल है । परन्तु उपाधियुक्त होने पर उसमें रूपान्तर भी हो सकता है । जल में स्वाभाविक रस अव्यक्त मधुर है । रस की योनि जल ही है । रसों में भिन्नता अर्थात अम्ल कटु तिक्तता आदि पृथ्वी आदि भूतों के संयोग से होती है ।

जल का स्पर्श शीतल है, परन्तु सूर्य के ताप तथा अग्नि संयोग में उष्ण भीं हो जाता है यह उपाधि है । जब उपाधि समाप्त हो जाती है तो जल अपनी स्वाभाविक स्थिति (शीथलता) में ही आ जाता है ।

अब प्रश्न उठता है कि जल में चीनी या मधु के समान मिठास कहाँ प्रतीत होता है, जल मधुर होता तो शरबत बनाने के लिए चीनी की आवश्यकता क्यों होती । इसके उत्तर में श्रीधराचार्य कहते हैं कि माधुर्य गुण आपेक्षिक होता है । किसी पदार्थ में अधिक मिठास होता है और किसी में कम । जल में माधुर्य की मात्रा न्यून होती है तथा वह माधुर्य अव्यक्त रूप में रहता है । इसी लिए चोनी आदि के समान जल मीठा नहीं होता । क्योंकि जल का रस तिक्त कटु अम्ल लवण और कषाय इनमें किसी के अन्तर्गत नहीं आता अत: जल का अव्यक्त मधुर रस मानना पड़ेगा ।

वर्ण: शुक्लो रसस्पर्शो जले मधुरशीतलौ ।
स्नेह स्तत्र द्रव्त्वं तु सांसि द्धक मुदाहृतम् ।। न्यायमुक्तावली ।।

द्रवत्व अर्थात प्रवाह शीलता जल का स्वाभाविक गुण है । पृथ्वी ठोस है किन्तु जल तरल होता है ।

यहाँ शंका है कि बर्फ और ओले तो ठोस होते हैं तब उन्हें जल कैसे माना जा सकता है। इसका उत्तर मुक्तावली में दिया गया है कि बर्फ तथा ओले पार्थिव नहीं माने जा सकते, क्योंकि थोड़ा गर्मी पाते ही उनका द्रवत्व या जलत्व प्रकट हो जाता है। फिर भी यह प्रवत्व सासिद्धिक कहां हुआ यह तो नमित्तिक कहजायेगा ? क्योंकि घी मोम आदि स्वत: द्रव न होते हुए भी अग्नि संयोग से पिघलते हैं, जैसे इनका द्रवत्व स्वाभाविक नहीं उसी प्रकार वर्फ का द्रवत्व भी स्वाभाविक न होकर नैमित्तिक मानना पड़ेगा। इसके उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि बर्फ के जल का घनत्व स्वाभाविक नहीं, अपितु औपाधिक है। जब ताप सयोग से वह उपाधि दूर हो जाती है तो बर्फ का जल अपने स्वाभाविक (द्रव) रूप में आ जाता है। मोम, घी आदि का घनत्व स्वाभाविक होता है और कारण विशेष से ही उनमें द्रवता आती है।

नच हिमकरयो: कठिनत्वात् पार्थिवत्वमिति वाच्यम् उष्मणाविलीनस्य तस्य जलत्वस्य प्रत्यक्ष सिद्धत्वात्। अदृष्टविशेषेण द्रवत्वप्रतिरोधात् करकाया: काठिन्य प्रत्ययस्य भ्रान्तित्वात् ।। सिद्धान्तमुक्तावली ।।

जल भी परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप अनित्य होता है। कार्य रूप जल तीन प्रकार का है--(१) शरीर (२) इन्द्रिय (३) विषय भेद से। जलीय शरीर वरुण लोक में अयोनिज होता है जलीय परमाणुओं से जो इन्द्रिय बनी है वह रसनेन्द्रिय कहलाती है यह जिह्वा के अग्रभाग में रहती है और रस या स्वाद का ग्रहण करती है। जल के विषय नदी समुद्र आदि हैं।

जल की चार अवस्थायें--

(१) अम्भ (२) मरीची (३) मर (४) आप। सूर्य मण्डल से ऊपर आकाश के ऊपरी भाग में जो जल है उसे अम्भ कहते हैं। यही अमृत रूप है और इसमें परमात्मा का निवास भी बतलाया है। यह जल की सूक्ष्म प्राथमिक अवस्था है। अम्भ अर्थात् सोम सूर्य किरणों के सम्पर्क से ज्वलनशील होता है और प्रकाश जनक भी है। हो सकता है यह हाइड्रोजन ही।

सूर्य की किरणों से प्रभावित सूर्यमण्डल और पृथ्वी के मध्य अन्तररिक्ष में अवस्थित जल मरीची है। यह आग्नेय सोम होने से पवमान कहलाता है और सूर्य का प्रकाश यहीं से आता है। सम्भव है यही आक्सीजन हो।

उपरोक्त अम्भ तथा मरीचि दोनों के संयोग से मर संज्ञक जल बनता है। आधुनिक विज्ञात से सिद्ध है कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन (२+१) के संयोग से स्थूल जल प्राप्त होता है, यही मर है। पृथ्वी से नीचे जो जल है उसे आप कहते है। जल में अभास्वर शुक्लता है।

तेज निरूपण

तेज का लक्षण–

अग्नि में रूप और स्पर्श दो गुण होते हैं। शुद्ध अग्नि का स्पर्श उष्ण और रूप भास्वर (चमकीला) होता है। समवाय सम्बन्ध से उष्ण स्पर्श जिसमें विद्यमान हो उसे तेज कहते हैं। 'उष्ण: स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्ल भास्वरम्' (कारिकावली) तेज में रुप गुण उत्कर्षजन्य और शब्द तथा स्पर्श अपकर्ष से आते हैं। यदि कहा जाय कि तपी हुई धरती में, खौलते पानी में और जेष्ठी-मास की लू में भी उष्णता पायी जाती है तो इसका उत्तर है कि यह पृथ्वी, जल तथा वायु की उष्मा नही होती किन्तु तेज (अग्नि) के संयोग से उनमें उष्णता अनुभव होती है। अत: अग्नि के अतिरिक्त जिस किसी द्रव्य में उष्मा प्रतीत हो वह औपाधिक समझनी चाहिये स्वाभाविक नहीं।

अग्नि की उत्पत्ति के लिए स्पर्भतन्मात्रा की सहायता अपेक्षित है। गत्वात्तक वायु में जो संघर्ष होता है उसी का परिणाम तेज है। अथवा यूं कहिये कि प्रकृति के अन्दर गति के अवरोध का परिणाम अग्नि या ताप है। पाश्चात्य दार्शनिक हर्बट स्पेंसर भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। उनका कथन है कि गत्यवरोध से अग्नि विद्युत्, चुम्बक तथा प्रकाश उत्पन्न होते हैं। वास्तव में अग्नि, विद्युत, प्रकाश आदि एक ही तत्व के परिणाम हैं। इसका समर्थन उपनिषदों में भी मिलता है। यथा—

'श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसोन्यवर्तत अग्नि:। स त्रेधा आत्मानं व्याकुरुत आदित्य द्वितीयं वायु तृतीयम्' (वृहदारण्यकोपनिषद्)

तेज के प्रकार–

तेज भी परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य है। शरीर, इन्द्रिय और विषय भेद से कार्य रूप तेज तीन प्रकार का हो जाता है। तैजस् शरीर आदित्य लोक में है जो अयोनिज होता है। तेज के परमाणुओं से जो इन्द्रिय बनी है उसे चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं इसीलिये चक्षु प्रकाश की उपस्थिति में रूप को ग्रहण करती है।

तेज के विषय–

तेज के विषय चार प्रकार के होते हैं—(१) भौम (२) दिव्य (३) उदर्य (४) आकरज। भौम—जो अग्नि इन्धन के सहयोग से जलती है उसे भौम तेज कहते हैं इसी के द्वारा हम भोजनादि पकाते हैं। दिव्य बिना इन्धन की

सहायता से प्रकाशित होने वाला तेज दिव्य तेज है। जैसे सूर्य, चन्द्र विद्यु त आदि। उदर्य खाये हुए सब प्रकार के भोजन का परिपाक जिसके द्वारा होता है वही उदर्य तेज अर्थात जठराग्नि है। आकरज-जो तेज खनिज पदार्थों में पाया जाता है, जैसे- सोना।

वैशेषिक दर्शन में स्वर्ण को पार्थिव न मानकर आग्नेय माना गया है और इसके पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं—

(१) पार्थिव वस्तुएं आग में जलाई जा सकती हैं, किन्तु सोना नहीं जलता। सोना ताप से मोम आदि के समान पिघल तो जाता है पर उनके समान जलता नहीं है। तीव्र अग्नि पाकर भी स्वर्ण के कण अक्षुण्ण बने रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वर्णकण स्वत: आग्नेय हैं इसीलिए वे जलते नहीं है।

(२) यदि स्वर्ण आग्नेय है तो उसका स्पर्श उष्ण क्यों नहीं होता, और स्वत: प्रकाशित क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में वैशेषिकगण कहते हैं कि सोने के साथ जो पार्थिवकण मिले रहते हैं उन्हीं के कारण छिपा होता है, अत: वह स्वत: प्रकाश्य नहीं है।

ननु सुवर्णस्य तैजसत्वे किं मानमिति चेद्? न सुवर्ण तैजसम्, असत्ति-प्रतिबन्ध के अत्यन्तानल संयोगेऽप्यनुच्छिद्यमान जन्य द्रवत्वात् यन्नैवम् तन्नैवम् यथा पृथ्वीति। नचाप्रयोजक पृथ्वीद्रव्यत्वस्य जन्य जल द्रवत्वस्य चात्यन्ताग्नि संयोग नाश्यत्वात्।। न्यायमुक्तावली।।

शंकर मिश्र ने प्रकाश और उष्णता की मात्रा के अनुसार तेज के चार भेद किये हैं–

(१) जिसमें प्रकाश और उष्मा दोनों ही होते हैं, जैसे सूर्य का तेज आदि। (२) जिसमें प्रकाश तो दिखाई देता है किन्तु उष्मा नहीं होती, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश। (३) जिसमें उष्णता रहती है किन्तु प्रकाश नहीं होता जैसे ज्येष्ठ की गर्मी तथा तप्त कड़ाही। (४) जिसमें प्रकाश और उष्मा दोनों अप्रकट रहते हैं, जैसे–नेत्र का तेज।

नोट:—चाँदनी शीतल प्रतीत होती है इसका कारण यह है कि उसमें तेज के साथ-साथ जल के कण भी विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार स्वर्ण भी उपाधियुक्त होने के कारण गर्म नहीं लगता।

वायु निरूपण

गत्यर्थक् गतिगन्धनार्थक् वा धातु से वायु शब्द सिद्ध होता है। वायु अदृश्य पदार्थ है। यह केवल स्पर्श के द्वारा जाना जाता है। पृथ्वी आदि द्रव्यों में दर्शन तथा स्पर्शन दो गुण होते हैं, किन्तु वायु में यह बात नहीं है क्योंकि वायु का कोई रंग नहीं होता अत स्पर्श से ही उसका ज्ञान सम्भव है। वायु का स्पर्श न शीतल होता है और न उष्ण, हाँ जब जल का सयोग हो तब शीतल तथा जब उष्मा का संयोग हो तब उष्ण होता है।

वायु का लक्षण—

आकाश के पश्चात् स्पर्श तन्मात्रा की अभिव्यक्ति हुई, जिससे स्पर्श गुण वाला व यु उत्पन्न हुआ (विष्णु पुराण) रजोबहुलो वायु:, अर्थात—वायु में रजोगुण की बहुलता है (सुश्रुत) "अपाकजोऽनुष्णाशीत स्पर्शस्तु पवनेमत:" अपाकज तथा अनुष्णाशीत स्पर्श यह गुण वायु में है। (मुक्तावली) तेज के संयोग विशेष को पाक और पाक से उत्पन्न पाकज कहलाता है। रूप, रस, गन्धादि गुण पृथ्वी में पाकज तथा जल, तेज और वायु में अपाकज हैं। इस विश्व में कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो गतिशील न हो अगु से लेकर ग्रह उपग्रह तक सभी गतिशील है। इसीलिए इसको जगत या संसार कहते हैं। संसार के अन्दर इस गति का मूल कारण वायु ही है। अत: चरक सुश्रुत में वायु की महिमा का विशिष्ट वर्णन किया गया है सुश्रुत ने तो यहां तक कहा है कि—"स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दित:" स्वातन्त्र्यात् नित्यभावाच्च सर्वगत्वात्तथैव च। यही नहो वायु को 'तन्त्र यन्त्रधर:' कहा गया है वायु न हो तो पत्ता भी नहीं हिल सकता है।

वायु के भेद—

वायु भी परमाणु रूप में नित्य और कार्य रूप में अनित्य है। कार्य रूप वायु तीन प्रकार का है—(१) शरीर (२) इन्द्रिय (३) विषय संज्ञक। वायवीय शरीर अयोनिज है। वायु के परमाणुओं से त्वगिन्द्रिय बनी है जो त्वचा कहलाती है और जिसके द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता है।

नोट:—सभी इन्द्रियों में त्वगिन्द्रिय प्रधान। क्योंकि बिना स्पर्श के कोई भी इन्द्रिय अपना अर्थ ग्रहण करने में असमर्थ होती है त्वचा सम्पूर्ण शरीर को आवृत किये रहती है।

हवा, आंधी आदि के द्वारा वृक्षादि का कम्पन होना वायु का विषय है। शरीर में स्थित प्राणवायु शरीर की विविध क्रियाओं का सम्पादन करता है।

यद्यपि वायु एक है किन्तु क्रिया भेद से इसकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें हो जाती हैं। शरीर स्थित यह वायु प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान भेद से ५ प्रकार का है।

हृदि प्राणोगुदेऽपानः समानो नाभिसस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः।

इनके कार्य क्रमशः इस प्रकार हैं—

अन्नप्रवेशनं मूत्राद्युत्सर्गोऽन्नादि पाचनम्।
भाषणादि निमेषाश्च तद्व्यापाराः क्रमादमी॥

आयुर्वेद चिकित्सा की नींव त्रिदोष के ऊपर ही आधारित है। आधुनिक विज्ञान इसको माने या माने, इसे वैज्ञानिक समझे या न समझे किन्तु आयुर्वेद के आध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने पूर्ण दार्शनिकता के आधार पर इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। वास्तव में आजकल कई लोग वायु को ऑक्सीजन कार्बन-डाइआक्साइड तथा हार्मोन्स समझते हैं और इन्हीं से वायु का सामञ्जस्य करने का निष्फल प्रयास करते हैं। वायु के दार्शनिक लक्षणों से विदित होता है कि वायु क्या है। चरक वातकलाकलीय अध्याय का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन करने पर विदित होगा कि वायु क्या-क्या कार्य करती है। त्रिदोष में बात, पित्त, कफ इन तीनों का समावेश है, परन्तु इनमें भी वायु ही प्रधान है। "पित्तम् पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवा मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥ (शर्ङ्गधर)। अचिन्त्य वीर्योद्दोषाणां नेता रोगसमूहराट्। (सुश्रुत)। शरीर पांच भौतिक हैं, परन्तु पाँचों भूतों में भी पृथ्वी आधार है और आकाश शून्य स्थान है। जल, तेज और वायु ये तीन ही मिलकर सृष्टि के विविध कार्य सम्पादन करते हैं। शरीर में भी इन्हीं की महिमा देखी जाती परन्तु इन बात, पित्त, कफ से शरीर से निकलने वाले मलभूत वायु, पित्त, कफ नहीं समझना चाहिए। इनकी वास्तविकता का ज्ञान दार्शनिकों को भी नहीं, योगियों को हो सकता है।

इस प्रकार एक वायु की महिमा का वर्णन करना पूर्ण विश्व का वर्णन करना है। व्यावहारिक दृष्टि से शरीर में चेतना है अथवा नहीं इसका ज्ञान वायु पर ही आधारित है, जो प्राण नाम से व्यवहृत होता है। आधुनिक यन्त्र स्टेथिस्कोप आदि से हृदय की गति का ज्ञान करते हैं, किन्तु हृदय की गति वायु की गति पर ही निर्भर है। इसीलिए तो आयुर्वेदाचार्यों ने 'वायुरेव भगवान्' यह घोषणा कर दी है।

आकाश निरूपण

आकाश का लक्षण–

महर्षि कणाद ने आकाश का लक्षण बताते हुए कहा है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनमें से कोई भी गुण आकाश में नहीं होता। आकाश न देखा जा सकता है न इसे छू सकते हैं। 'ते आकाश न विद्यन्ते' (वै० सू०)

आकाश कहीं नीला कहीं उजला दिखाई देता है फिर आकाश को रूपवान् क्यों नहीं माना गया।

इसका समाधान यह है कि- दूर स्थित आकाश में जो नीलापन दिखाई देता है, वह छाया के कारण है और उजलापन तेज का रहता है। वास्तव में आकाश में कोई रूप नहीं देता। जिस प्रकार गहरा जल काला नीला दिखाई देता है उसी प्रकार आकाश दूर तक रिक्त होने से नीला दिखाई देता है। किन्तु जब आकाश अदृश्य पदार्थ है तो उसका ज्ञान कैसे होगा। अर्थात उसका चिह्न क्या है ? वैशेषिकों का कथन है कि—'शब्दगुणकमाकाशम्' आकाश का विशेष गुण शब्द हैं। आकाशस्य तु विज्ञेयो शब्दो वैशेषिकोगुण:' शब्द स्पर्श वाले द्रव्यों का गुण नहीं है, क्योंकि—

(१) जिस वस्तु से शब्द प्रत्यक्ष सुनाई पडता है, उसके समवायि कारण में वह गुण होना चाहिए। जैसे शंख का शब्द शंख के समवायि कारण अस्थि में तो था नहीं फिर शंख में कहां से आ सकता है। अतः शब्द शंख का गुण नहीं हो सकता है।

(२) यदि शब्द शंख का ही गुण होता तो जब तक शंख दिखाई देता तब तक शब्द की उपलब्धि भी होती। किन्तु ऐसा नहीं होता है।

(३) इसके अतिरिक्त शंख का शब्द शंख के साथ ही रहना चाहिए। क्योंकि उसका गुण है। परन्तु शब्द हमारे कान तक पहुँचता है। जहां शख का अस्तित्व ही नहीं है। इससे स्पष्ट है कि शब्द का आधार कोई ऐसा द्रव्य है जो स्पर्श तथा रूप से रहित है।

काशृ दीप्तौ धातु से आकाश शब्द बना है। आकाश व्यापक पदार्थ है और पृथ्वी आदि सभी भूतों का मूल कारण है। संसार के सभी पदार्थ आकाश के ही परिणाम हैं। आधुनिक विज्ञान भी इस बात का समर्थन करता है कि संसार के सभी द्रव्य धनविद्युतपिण्ड (Protons) और ऋणविद्युतपिण्ड (Electrons) से बने हैं। यह पिण्डद्वय भी आकाश का ही परिणाम है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि आकाश विभु पदार्थ है। अतः उसके कोई भेद नहीं होते है। घटाकाश मठाकाश आदि भेद व्यवहारिक है।

पञ्चमहाभूत

आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी इन पाँच द्रव्यों को पंच महाभूत कहते हैं। सत्ता अर्थ में भूधातु से क्त प्रत्यय होकर भूत शब्द निष्पन्न होता है भूत का अर्थ है, जिसकी सत्ता हो या जो यथार्थ में हो उसे भूत कहते हैं। महान्ति भूतानि महाभूतानि — अर्थात् भूत संसार के सभी चराचर वस्तुओं में व्याप्त रहते हैं, अतः इन्हें महाभूत कहते हैं।

पंचमहाभूतों के नैसर्गिक गुण–

आकाश का गुण शब्द, वायु का स्पर्श, तेज का स्पर्श, जल का रस और पृथ्वी का नैसर्गिक गुण गन्ध है। ये गुण महाभूतों में स्वाभाविक रूप में रहते हैं तथा नित्य सम्बन्ध से स्थित है। किन्तु जब क्रमशः इनका विकास हुआ तो शब्द तन्मात्रा थीं, उस शब्द तन्मात्रा से स्पर्श तन्मात्रा की सहायता द्वारा वायु की उत्पत्ति हुई। अतः वायु में शब्द तथा स्पर्श दो गुण हो गये। स्पर्श अपना नैसर्गिक गुण और शब्द आकाश का भूतानु प्रवेश गुण है। पुनः स्पर्श तन्मात्रा से रूप तन्मात्रा की सहायता द्वारा तेज महाभूत उत्पन्न हुआ। तेज में शब्द, स्पर्श तथा रूप ये तीन गुण रहते हैं। रूप तन्मात्रा से रस तन्मात्रा की सहायता द्वारा जल महाभूत प्रकट हुआ, जल में पूर्व महाभूतों के शब्द, स्पर्श, रूप गुणों के साथ अपना रस गुण भी है। इसी प्रकार रस तन्मात्रा से गन्ध तन्मात्रा की सहायता से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी में पांचों गुण उपस्थित है। इनमें जो २ गुण पिछले भूतों से आये हैं। उन्हें भूतानिप्रवेश या अपकषजन्य गुण कहते हैं और जो स्वयं का गुण है वह नैसर्गिक या उत्कर्षजन्य कहलाता है।

इसी बात को महर्षि चरक ने निम्नलिखित श्लोकों में प्रकट किया है —

> महाभूतानि खवायु रग्निराप: क्षितिस्तथा।
> शब्द स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्चद्गुणाः। चरक शा० ॥
> तेषामेक गुणः पूर्वो गुण वृद्धिः परे परे।
> पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषुस्मृतः ॥ चरक शा० ॥

महाभूतों के भौतिक गुण–

पृथ्वी में खरता, जल में द्रवता, तेज में उष्णता, वायु में चलता और आकाश में अप्रतिघात यह भौतिक गुण हैं। इन सभी लक्षणों का ज्ञान स्पर्शनेन्द्रिय से होता है। इसीलिये —

> लक्षणं सर्वमेवेतत् स्पर्शेन्द्रिय गोचरम्।
> स्पर्शनेन्द्रिय विज्ञेयः स्पर्शोहि सविपर्ययः ॥ चरक शा० ॥

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिल तेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्ट लिङ्गं यथाक्रमम् ।।

पंचमहाभूतों का विकास –

१—शब्दतन्मात्रा = आकाश
२—१ शब्दतन्मात्रा + २ स्पर्शतन्मात्रा = वायु
३—१ शब्दतन्मात्रा + १ स्पर्शतन्मात्रा + २ रूपतन्मात्रा = तेज
४—१ शब्दत० + १ स्पर्शत० + १ रूपत० + २ रसत० = जल
५—१ शब्दत० + १ स्पर्शत० + १ रूपत० + १ रसत०
+ २ गन्धतन्मात्रा = पृथ्वी

इस प्रकार तन्मात्राओं से पहले तत्वों की एक मात्रा और स्वयं की दो मात्रा मिलकर आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति हुई । यह तीन तीन का संयोग दार्शनिकों का अणु है ।

वास्तव में परमाणुवाद के अनुसार सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव जिसका पुन: कोई विभाजन नहीं हो सकता वह अविभाज्य अवयव परमाणु है । यह इन्द्रिय ग्राह्य नहीं होता है, जब दो परमाणु परस्पर संयुक्त होते हैं तब अणु कहलाता है और दो अणुओं से एक द्वयणुक बनता है दो द्वयणुक एक त्र्यणुक का निर्माण करते हैं । इस प्रकार कुछ त्र्यणुकों का समुदाय महान पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यों के निर्माण में सहायक होता है । इस प्रकार समस्त सृष्टि इन पांचों महाभूतों का ही खेल है। इनका जो अवयव इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता वह तन्मात्रा कहलाता है और जो इन्द्रिय ग्राह्य है वही भूत शब्द से सम्बोधित होता है । क्योंकि यह भूत सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहते हैं । इसीलिये इन्हें महाभूत कहते हैं इनमें पृथ्वी अन्तिम तत्व है उससे आगे कोइ नये तत्व नहीं बनते हैं । यह वर्णन विकास (Evolution) का है, स्थूलभूतों की उत्पत्ति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

पंचीकृत महाभूत–

(१) आकाश में आकाश का आधा भाग शेष आधे भाग में वायु, तेज जल और पृथ्वी समान भाग में रहते हैं ।

(२) वायु में वायु का आधा भाग शेष आकाश तेज, जल और पृथ्वी समान भाग में रहते हैं ।

(३) तेज में तेज आधा भाग शेष आकाश वायु, जल और पृथ्वी समान भाग में रहते हैं ।

(४) जल में जल का आधा भाग शेष आकाश वायु तेज और पृथ्वी समान भाग में रहते हैं ।

(५) पृथ्वी में पृथ्वी का आधा शेष आकाश, वायु, तेज और जल समान रहते हैं ।

यही कारण है कि जिसका अधिक भाग है उसके लक्षण व्यक्त रूप में होते हैं और शेष अव्यक्त रूप में रहते हैं । जिसके लक्षण व्यक्त होते हैं उसी के नाम से वह महाभूत पुकारा जाता है ।

स्थावर जङ्गात्मक सृष्टि जिन महाभूतों से उत्पन्न होती है, वे पृथक् स्वतन्त्र रूप में नहीं रहते, अपितु मिश्रित रूप में होते है । इनका मिश्रण भी एक विशेष प्रकार का होता है, इसको पंचीकरण कहते हैं । अतः पंचीकृत महाभूत में पाँचों के अंश उपस्थित रहते हैं । सांख्य दर्शन में भी स्थूल महाभूतों से निरिन्द्रिय सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है, किन्तु स्थूल महाभूतों की उत्पत्ति के लिए 'गुण परिणाम' के अतिरिक्त वर्णन कुछ भी नहीं दिया गया है । इन स्थूल महाभूतों का विशेष वर्णन वेदान्त दर्शन में पाया जाता है । सूक्ष्म तन्मात्रायें दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु इनमें इन्द्रियगम्यता बीज रूप में रहती हैं । यह केवल योगीजनों के ही प्रत्यक्ष के विषय हैं और यही स्थूल पंचमहाभूतों के उत्पादक हैं । इसीलिए सांख्य ने पाँच तन्मात्राओं की प्रकृति में प्रसुप्त रूप में रहने वाले कहा हैं । जव भूतादि अहकार से राजसिह अहंकार द्वारा सूक्ष्म तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई तो फिर इन तन्मात्राओ के विशेष पाँच महाभूत हुए इनके अर्थ शव्दादि व्यक्त होने से इन्द्रिय गोचर होते हैं । चरक में भी कहा है—

> गुणः शरीरेगुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
> अर्थाःशब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥

इससे स्पष्ट हो जाता है कि जगत में जिन महाभूतों का कार्य देखने में आता है वे पंचोकृत महाभूत ही है । उनका पृथक् अस्तित्व नही है पृथक् रूप में केवल उनके बीजभूत सूक्ष्म तन्मात्रायें रहती हैं । यह भूतों की कारणावस्था है, कार्यरूप में इनका सम्मिश्रण ही पाया जाता है । इस प्रकार स्थावर जंगमात्मक प्रत्येक द्रव्य पचमहाभूतात्मक हैं अन्तर इतना ही है कि प्रत्येक द्रव्य में पंचमहाभूतों का परिणाम भिन्न-भिन्न होता है इसी से द्रव्यों में भिन्नता पायी जाती है । दोषधातु वैषम्य रूप विकार को दूर करने के लिये शरीरगत पञ्चमहाभूतात्मक दोष धातुओं का वैषम्य प्राप्त होने पर उचित औषधियों द्वारा उन्हें साम्यावस्था में स्थापित करना चिकित्सा कहलाती है ।भूतेभ्यो हिपरं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते' (सुश्रुत) अतः चिकित्सा के लिए पंच-महाभूतों का ज्ञान परमावश्यक है ।

काल निरूपण

काल का लक्षण–

कलनात् सर्व भूतानां स कालः अर्थात सम्पूर्ण जीव सृष्टि का संकलन करता है। अतः इसे काल कहते हैं। भिन्न-भिन्न कार्यों का आगे पीछे होना अथवा एक साथ होना, विलम्ब से होना या शीघ्र होना, यह काल के सूचक लक्षण हैं। काल परस्पर आगे पीछे आदि गुणों का आधार होने से द्रव्य है और आकाश के समान निरवयवी होने से नित्य है।

"अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काल लिङ्गनि" ।। वै० सू०।

उत्पन्न होने वाले पदार्थों का जनक, जगत् का आश्रय तथा परत्व अपरत्व ज्ञान का हेतु है। अतः काल कहलाता है। यह काल मूलतः एक ही है, किन्तु अनित्य पदार्थों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का आधार होने के कारण भूत, वर्तमान और भविष्य तीन प्रकार का माना जाता है। परन्तु यह विभाग किसी प्रकार भी काल की अनेकता सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि काल नित्य और शाश्वत् रूप से सदा विद्यमान रहता है। केवल कार्य विशेष को हम भूतादि विभाग से व्यवहृत कर सकते हैं। अर्थात भूत, वर्तमान और भविष्य ये कार्य के विशेषण हैं, काल के नहीं।

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः।
परापरत्वधीर्हेतुः क्षणादिः स्यादुपादितः। मुक्तावली ।।

लोक व्यवहार में समय को नापने के लिए हमने जो कल्पनायें की हैं, वे किसी न किसी प्रत्यक्ष कार्य के आधार पर अवलम्बित हैं। अतः इन्हें औपाधिक विभाग समझना चाहिये।

सुश्रुत के वर्णन के आधार पर काल सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है। इसका न आदि है, न अन्त है, और न मध्य है। प्राणियों का जीवन मरण काल के ही आधीन है। निमेषमात्र को भी यह ठहरता नहीं है। संहार द्वारा सभी प्राणियों को ग्रहण करता है। अतः इसे काल कहते हैं। भगवान् सूर्य अपनी गति विशेष से काल का निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, अहोपात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष और युग विशेष से विभाग करते हैं। पलक झपकने में जितना समय लगता है उसे निमेष कहते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक जितना समय लगता है वह एक अहोरात्र कहलाता है। समय को बताने वाले जितने भी यन्त्र हैं वे यथार्थ में कार्य विशेष की ही

नापते हैं। जैसे—धूप घड़ी से छाया का, सुई वाली घड़ी से सुई की गति का परिमाण नापा जाता है। समय विभाग करने में सूर्य के उदाहरण से चन्द्रमा को भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष चन्द्रमा की गति पर आधारित हैं।

दिशा का निरूपण

दिशा का लक्षण—

एक वस्तु से दूसरी वस्तु किस ओर तथा कितनी दूर है। यह ज्ञान जिसके द्वारा होता है, उसी का नाम दिक् (दिशा) है। अर्थात यह वस्तु अमुक वस्तु को अपेक्षा दूर है, इस ज्ञान का हेतु परत्व तथा यह अमुक की अपेक्षा समीप है, इस ज्ञान का हेतु अपरत्व है। तह परत्व और अपरत्व दिशा की सिद्धि में लिङ्ग है। यह एक और नित्य है। एक होने पर भी उपाधिभेद से पूरब पश्चिम आदि अनेक नामों से जानी जाती है।

दूरान्तिकादि धीर्हेतु रेकानित्तादिगुच्यते।
उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादिव्यपदेशभाक्॥ मुक्तावली॥

दिशा के विभाग—

लोक व्यवहार के लिए दिशा के चार विभाग किये गये हैं: -

(१) पूर्व—जिस ओर सर्व प्रथम सूर्य का दर्शन होता है। 'प्रथमम् अञ्चतीति' प्राची। (२) दक्षिण—पूर्वाभिमुख खड़े होने पर जिधर दाहिना हाथ हो, 'अर्वाक अञ्चतीति' अर्वाची। (३) पश्चिम—जिस ओर सूर्य का दर्शन अन्त में होता है, 'प्रत्यक् अञ्चतीति' प्रतीची। (४) उत्तर—पूरब की ओर मुख करके खड़ा होने पर जिधर बाँया हाथ रहे, 'उदक अञ्चतीति' उदीची।

इन चार दिशाओं के बीच जो चार कोण हैं, उन्हें ईशान, वायव्य नैऋत्य तथा आग्नेय कोण कहते हैं। आकाश, पाताल मिलाकर दस दिशायें हो जाती है।

दिशा तथा काल में भेद—

दिशा तथा काल दोनों से आगे पीछे का बोध होता है, जैसे—घन के पीछे बगीचा है और मेरे पीछे भाई का जन्म हुआ। परन्तु यह पीछे शब्द दोनों में एक ही अर्थ नहीं रखता। पहिले वाक्य में पीछे का अर्थ पृष्ठ भाग है और दूसरे में पीछे का अर्थ उत्तरकाल में संगठन। दिशा तथा काल दोनों की

उपाधियों में भिन्नता है। दिशा का विभाग मूर्ति पर अवलम्बित है और काल का विभाग क्रिया पर।

काल का सम्बन्ध नियत होता हैं जैसे-जेष्ठ भ्राता कभी कनिष्ठ नहीं हो सकता। किन्तु दिशा का सम्बन्ध नियत नहीं होता। क्योंकि जिस प्रदेश को हम पूरब कहते हैं, वह कालान्तर में पश्चिम भी हो सकता है। हम घर से पाठशाला तक जायें या पाठशाला से घर तक। यह दोनों कम सम्भव हैं और यह हमारी इच्छा पर निर्भर करते हैं। परन्तु काल में यह बात नहीं होती है। काल का प्रवाह नियत होता है। हम लोग भूत से आते हैं तथा भविष्य की ओर जाते हैं, किन्तु इसका उल्टा नहीं चल सकते हैं।

आत्म निरूपण

इन्द्रियों के विषय रूप रसादि प्रसिद्ध हैं। अब प्रश्न यह है कि इन्द्रियों के द्वारा इन विषयों का उपयोग करने वाला कौन है ? इन्द्रियां तो स्वयं साधन है, अत: उनका उपयोग करने वाला कोई दूसरा ही होना चाहिये। जिस प्रकार शस्त्र स्वतः नहीं चलता, किसी के द्वारा चलाया जाता है। उसी प्रकार इन्द्रियां भीं स्वयं कार्य नहीं करती, उन्हे विषयों में प्रेरित करने वाला कोई और है। यथा—

'इन्द्रियार्थ प्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतु: ।। वै० सू० ।।

इन्द्रियों का संचालक शरीर ही क्यों न समझा जाये ? इसके उत्तर में महर्षि कणाद कहते हैं कि इन्द्रियों द्वारा जो कार्य होते हैं उनमें चैतन्यता का गुण विशेष रहता है। परन्तु शरीर के जो उत्पादन है जिनसे शरीर का निर्माण होता है, वे पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल आदि) हैं। और महाभूत जड़ है, इन में चैतन्यता का गुण नहीं होता है। जो गुण कारण में होते हैं वही कार्य में भी आते हैं। जब शरीर के घटक पंचमहाभूतों में चैतन्य गुण नहीं है तो शरीर में कहां से आया, इसी लिये शरीर चैतन्यवान नहीं हो सकता। अत: इन्द्रियों का प्रवर्तक, विषयों का ज्ञाता कोई दूसरा ही है। विचार करने से प्रतीत होगा कि चैतन्य या ज्ञान गुण है और गुण का आधार द्रव्य है तो चैतन्य का आधार भी कोई द्रव्य होना चाहिए। व्यवहार में देखा जाता है कि भिन्न भिन्न इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है उसका आधार 'मैं' शब्द से सूचित होता है, जसे—मैंने जिस वस्तु को देखा उसे छू रहा हूँ। यहाँ स्मृति ज्ञान से जाना जाता है कि देखने वाला और छूने वाला कोई एक ही व्यक्ति है। वह है 'मैं' इस मैं शब्द से न तो शरीर क ग्रहण होता है न दिशा, काल, मन का, इस

प्रकार सभी द्रव्य छूट जाते हैं शेष रहा आत्मा तो आत्मा को ही 'मैं' शब्द का वाचक मानना पड़ेगा ।

आत्मन् शब्द व्युत्पत्ति–

कठोपनिषद् (२/१/१)—शाङ्करभाष्य में श्री शंकराचार्य ने निम्नलिखित श्लोक द्वारा आत्मन् शब्द की विशिष्ट व्याख्या की है । यथा—

यदात्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य सन्ततोभाव स्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

अर्थात् आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (आप्नोति) सभी पदार्थों को अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्ते) स्थितिकाल में विषयों का उपभोग करता है (अत्ति) तथा इसकी सत्ता निरन्तर बनी रहती है (सन्ततोभावः) इन्हीं कारणों से आत्मा का आत्मत्व है ।

आत्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है । क्योंकि करणों का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है । यदि शरीर को ही आत्मा मान लें तो क्या आपत्ति है । चैतन्यता शरीर का गुण नहीं हो सकते, क्योंकि मृत शरीर में चेतना नहीं होती है इन्द्रियों को भी चैतन्य नहीं माना जा सकता क्योंकि एक वस्तु को तुम आँख से देखते हैं और उसी को हाथ से भी छूते हैं तो देखने तथा स्पर्श करने में हमें एक ही प्रकार का ज्ञान होता है कि वस्तु एक ही है इसके अतिरिक्त एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रिय पर पड़ता, जैसे—नींबू को आँख देखती है किन्तु जीभ से पानी टपकते लगता है । यदि इन्द्रिय ही आत्मा होती तो जीभ से पानी टपकना सिद्ध नहीं हो सकता यदि इससे यही सिद्ध होता है कि नीबू को देखने वाला और उसका स्वाद लेने वाला एक ही व्यक्ति है जो पहले ही नीबू का स्वाद जानता है । अब नीबू को देखकर उसे उसके स्वाद का स्मरण हो जाता है । इसी प्रकार यदि इन्द्रियों को आत्मा मानेंगे तो आँख से अन्धे व्यक्ति को रूप का स्पर्श नहीं होना चाहिए । किन्तु अन्धे को स्मरण रहता है । अतः आत्मा इन्द्रियों से पृथक् है ।

मन को भी आत्मा नहीं मान सकते । क्योंकि मन अणु रूप है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है । ऐसी दशा में यदि मन को आत्मा मान ले तो उसमें विद्यमान सुख-दुख आदि भी अप्रत्यक्ष होंगे । परन्तु ऐसा नहीं होता है । अतः शरीर, इन्द्रिय, मन इन तीनों से पृथक् चैतन्य स्वरुप आत्मा है ।

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।
शरीरस्य न चैतन्य मृतेषु व्यभिचारत: ।।
त्थात्वं चेन्द्रियाणा मुपधाते कथं स्मृति: ।
मनोऽपि न तथा ज्ञानाद्यनध्यक्षं तदा भवेत् ।। मुक्तावली ।।
ज्ञानाधिकरणमात्मा: ।। तर्क संग्रह ।।

आत्मा के चिह्न—

प्राण, आपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर संचार, प्रेरणा धारणा, स्वप्न में देशान्तर गमन, मरण, दाहिनो आँख से देखे पदार्थ को बायीं आँख से पहिचान लेना इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति, अहंकार, मन, संकल्प, विचारणा, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये सब आत्मा (पुरुष) के लिंग हैं ।

वायु ऊध्वं गमन तथा अधोगति किसी प्रयत्न से करता है। कुछ प्रयत्न इच्छा पूर्वक होते हैं, इन्हें योग्य प्रयत्न (Voluntary effort) कहते हैं। किन्तु जो प्रयत्न बिना इच्छा के स्वाभाविक रूप से होते हैं, उन्हें जीवन योनि प्रयत्न (Automatic effort) कहते हैं। स्वप्नावस्था में ऐसे ही प्रयप्न होते रहते हैं। मुख नासिका द्वारा फुफ्फुसों में जाने वाली वायु प्राण कहलाती है। इस क्रिया को (Inspiration) कहते हैं। इसके विरुद्ध अशुद्ध, वाहर निकलने वाली वायु अपात कहलाती है और इस क्रिया का नाम (Expiration) है।

निमेष अर्थात् पलक का बन्द होना, उन्मेष—पलक का खुलना। जीवन से शरीर की वृद्धि, क्षति पूर्ति आदि कार्य समझने चाहियें। ये कार्य ठीक उसी प्रकार के होते हैं, जैसे—घर का मालिक घर का जीर्णोद्धार करता है। मनोगति आत्मा मन की इच्छानुसार इधर-उधर दौड़ता है। इन्द्रियान्तर संचार अर्थात इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त आत्मा के प्रयत्न से ही होती है। खट्टे फल को देखकर मुंह में पानी आ जाता है।

इसी प्रकार सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि गुण है और गुण बिना द्रव्य के नहीं रह सकते हैं। शरीर के गुण ये गुण नहीं हो सकते क्योंकि शरीर जड़ है। अत. वे आत्मा के ही गुण हैं। उपरोक्त सभी लक्षण आत्मा के ही हैं।

प्राणापानौं निमेषाद्या जीवन मनसो गति: ।
इन्द्रियान्तर सञ्चार: प्रेरणं धारणञ्चयत् ।।
देशान्तरगति: स्वप्ने पञ्चत्व ग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्षणा सव्येनावगमस्तथा ।।

इच्चाद्वेषः सुकं दुःखं प्रयत्नश्चेतनाधृतिः ।
बुद्धिस्मृत्यहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः । चरक शा० १ ।।

सुश्रुत ने पुरुष के सौलह गुण बतलाये हैं और चरक ने बाईस लक्षण गिनाये हैं। उपरोक्त, लक्षण जब शरीर में मिलते हैं तो उसे 'सजीव' शरीर और जब नहीं मिलते तो निर्जीव (मृत) शरीर कहलाता है तात्पर्य यह है कि उपरोक्त लक्षण शरीर में तभी तक उपस्थित रहते हैं, जब तक उसमें आत्मा का संयोग है, अन्यथा शरीर मृत समझना चाहिए ।

शरीरं हि गतेतस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ।
पंचैभूतावशेषत्वात् पंचत्वं गतनुच्यते । चरक शा० १ ।।

सांख्य दर्शन में भी पुरुष अनुमान ग्राह्य माने गये हैं और उनकी उपलब्धि के लिये ये प्रमाण दिये हैं—

सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोस्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रबृत्तेश्च ।। शा० का० १७ ।।

ब्रह्मतत्व

उपनिषदों के आध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक निरत्तर परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान नित्य, शाश्वत् सत्तायुक्त पदार्थ का अन्वेषण अपनी तात्विक दृष्टि से किया है। आध्यात्मिक पद्धति से मन की प्रक्रियाओं तथा शारीरिक कार्यकलापों का अवलोकन करते हुये मूलभूत आत्म तत्व का निरूपण उपनिषद् कालीन दार्शनिकों ने किया तथा इन्होंने जिस परमतत्व सत्यभूत पदार्थ का विवेचन किया उसे ब्रह्म कहते हैं।

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं—(१) सगुण ब्रह्म (२) निर्गुण ब्रह्म। सगुण ब्रह्म का लक्षण दो प्रकार से किया गया है—(१) स्वरूप लक्षण (२) तटस्थ लक्षण ।

स्वरूप लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य ज्ञान तथा अनन्त रूप है । सत्यंज्ञान मनन्तब्रह्मः तै० उप०) तथा यह विज्ञान एवं आनन्द रूप है। (विज्ञानमानन्द-ब्रह्मः वृ० उ०) ।

तटस्थ लक्षण में एक ही शब्द से ब्रह्म की महिमा बताई गई है। वह शब्द है "तज्जालान्" यह जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज) उसी में लीन हो जाता है (तल्लः) उसी के द्वारा स्थिति काल में प्राण धारण करता है (तदन्) जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के कारण भूत इस परम तत्व का नाम ब्रह्म है।

निर्गुण ब्रह्म–

जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण द्वारा विशेषित नहीं किया जा सकता है, किसी चिन्ह से चिन्हित नही किया जा सकता तथा किसी गुण से भी निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है। अर्थात परब्रह्म निर्विकल्पक एवं निरुपाधि है; अनिर्देश्य है। इसीलिए श्रुति नेति नेति कहकर उसका परिचय देती है।

अब प्रश्न उठता है कि निर्विशेष निर्गुण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण इस नानात्मक जगत की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसके यथार्थ उत्तर के लिए 'माया' का स्वरूप ज्ञान आवश्यक है।

माया–

उस परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है। यह अविद्या रूपिणी बीज शक्ति 'अव्यक्त' कहलाती है। यह परमेश्वर में आश्रित महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन करते हैं तथा यह अनिर्घचनीय है। अर्थात जिस पदार्थ का सद्रूप या असद्रूप दोनों से वर्णन न किया जा सके उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। इसीलिये शंकराचार्य ने माया का स्वरूप बतलाते हुये लिखा है कि माया भगवान की अव्यक्त शक्ति है। जिसके आदि का पता नहीं चलता, वह त्रिगुणात्मिका अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है।

अव्यक्त नाम्नीं परमेष शक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिकाया।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।।विवेकचूड़ामणि।।

माया की शक्तियाँ–

माया की दो प्रकार की शक्तियां हैं–(१) आवरण शक्ति (२) विशेष शक्ति। इन्ही की सहायता से माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर उसमें जगत की अवास्तविक सत्ता का भ्रान्तियुक्त ज्ञान उत्पन्न कराती हैं। जब तक किसी वस्तु के असली रूप को ढका न जाय और अवास्तविक स्वरूप की उस पर स्थापना न की जाये तब तक भ्रान्ति नहीं हो सकती। भ्रम में डालने वाले जादू के खेल इसके प्रमाण हैं। अत: आवरण शक्ति ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ढक देती है और विशेष शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। इसलिये जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की माया ही कारण है।

ईश्वर–

वह निर्विशेष ब्रह्म माया द्वारा ग्रवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुण भाव धारण करता है तव उसे ईश्वर कहते हैं। ग्रतः जगत् की उत्पत्ति स्थिति तथा विनाश का कारण यही ईश्वर है।

ग्रब यह ग्राशंका होती है कि श्रुति ईश्वर को सर्व कामः कहकर सम्बोधित करती हैं। सर्वकामः का तात्पर्य है कि जिसकी सम्पूर्ण इच्छायें परिपूर्ण हों। जब ईश्वर इच्छाओं से परिपूर्ण हैं तो उसका सृष्टि व्यापार से क्या प्रयोजन हो सकता है। बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है पुनः इतने बड़े कार्य सृष्टि व्यापार का कोई प्रयोजन ग्रवश्य होना चाहिए ग्रौर यदि कोई प्रयोजन हैं तो फिर ईश्वर सर्वकामः नहीं कहा जा सकता है। ग्रतः ईश्वर का सृष्टि व्यापार बिना प्रयोजन के लीलामात्र है।

जीव–

यही ईश्वर जब ग्रन्तःकरण से युक्त होता है तब उसे जीव कहते हैं ग्रर्थात् ग्रन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की ही जीव संज्ञा है। शरीर, इन्द्रिय समूह के ग्रध्यक्ष, कर्मफल के भोक्ता ग्रात्मा को जीव कहते हैं।

परमात्मा का लक्षण–

विकारों से रहित मन महाभूत, महाभूतों के गुण (शब्द स्पर्शादि) तथा इन्द्रियों से परे होने के कारण परमात्मा कहलाता है। क्योंकि "शरीरं सत्व सज्ञं च व्याधीना माश्रयो मतः" चरकोक्त इस कथन के ग्रनुसार रोग (विकार) शरीर एवं मन में ही होते हैं। यह परमात्मा जब पंच भौतिक शरीर पंचज्ञानेन्द्रिय तथा मन से संयुक्त होता है, तब इसके चैतन्य का प्रकाश होता है। इसी समुदाय को महर्षि चरक, पुरुष कहते हैं।

पुरुष के भेद–

महर्षि चरक ने तीन प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया है।

खादयश्चेतना षष्ठाः धातवः पुरुषः स्मृतः।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष सज्ञकः।।
पुनश्च धातु भेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।।

(१) ग्रर्थात्–ग्राकाश, वायु, तेज, जल ग्रौर पृथ्वी इन पाँच महाभूतों के साथ छठी चेतना धातु का संयोग पुरुष कहलाता है। (२) केवल चेतना धातु को भी पुरुष कहा जाता है। (३) फिर धातु भेद से २४ तत्वों वाला चतुर्विंशति तत्वात्मक पुरुष है। यह चौबीस तत्व इस प्रकार हैं—मन दस

इन्द्रियां (पाँच ज्ञानेन्द्रिय पाँच कर्मेन्द्रिय) पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्शादि) यह सोलह विकार और आठ प्रकृति—अव्यक्त, महान्, अहंकार और पाँच तन्मात्रा, इस प्रकार २४ तत्व होते हैं।

उपरोक्त षड्धातु पुरुष चिकित्स्यपुरुष कहलाता है। आयुर्वेद में इसीको चिकित्सा तथा कर्मफल का आश्रय माना गया है। चतुर्विंश ततत्वात्मक पुरुष राशि पुरुष कहलाता है। इस राशिपुरुष को अनित्य माना गया है क्योंकि यह मोह, इच्छा द्वेषादि कर्मों से उत्पन्न होता है। 'पुरुषोराशि संज्ञस्तु मोहेच्छा द्वेषकर्मजः तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्मो के द्वारा जो पुरुष नाना योनियों में जन्म लेता है, वही राशि संज्ञक पुरुष हैं। न्याय शास्त्र के अनुसार आत्मा के दो भेद हैं। परमात्मा तथा जीवात्मा, परमात्मा एक है। परन्तु जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न होने से अनेक हैं। सारांश यह है कि जिस प्रकार १०० घड़े पानी के भरे हैं, सूर्य एक है, परन्तु प्रत्येक घड़े में सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। इसी प्रकार प्रयेत्क शरीर में परमात्मा का प्रतिबिम्ब ही जीवात्मा है।

आत्मज्ञानी विद्वानों ने आत्मा को क्रिया रहित, स्वतन्त्र, वशी, सर्वग, विभु, क्षेत्रज्ञ और साक्षी बतलाया है।

(१) अब आशंका होती है कि क्रिया रहित पुरुष में क्रियायें कैसे होती हैं? इसके उत्तर में चरक का कथन है कि आत्मा चैतन्य है किन्तु क्रिया रहित है और मन अचेतन है परन्तु क्रियावान है, आत्मा के सम्पर्क से मन सम्पूर्ण क्रियाओं का सम्पादन करता है। आत्मा चेतनाबान होने से निष्क्रिय होने पर भी क्रियावान् कहलाता है। किन्तु मन अचेतन होने के कारण क्रिया करता हुआ भी क्रियावान् नहीं कहा जाता। जैसे लकड़ी कुल्हाड़ी से काटी जाती है परन्तु कुल्हाड़ी जड़ होने से स्वयं काटने का व्यापार नहीं कर सकती पुरुष चेतन हैं किन्तु उसमें काटने रूप व्यापार का कोई गुण नहीं है। फिर भी जब पुरुष कुल्हाड़ी की सहायता द्वारा लकड़ी काटता है तो व्यवहार में यही कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने लकड़ी काटी। कूल्हाड़ी का नाम कोई नहीं लेता है।

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरूच्यते।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते। चरक शा०।

जब आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्ट योनियों में क्यों जाता है।

उत्तर—

मन के सम्पर्क में रहकर आत्मा जिस प्रकार का कर्म करता है इच्छा न होते हुए भी अपने किये कर्म के आधीन होकर सब प्रकार की योनियों में

जाता है। अर्थात् मनुष्य अपने कर्मों से अपनी आत्मा को विविध योनियों में पहुंचाता है। दूसरा इसे अन्य योनियों में ले जाने वाला कोई नहीं है।

यथा स्वेनात्मनः सर्व मनः सर्वासु योनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्यतन्त्रक. । चरक शा०।

(३) इसी प्रकार अपनी इच्छानुसार कर्मों में प्रवृत्त होने वाला आत्मा शुभाशुभ योनियों में फल भोगता है तथा स्वयं ही योग, समाधि में प्रवृत्त हो सम्पूर्ण जाल को छोड़कर मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है। अतः इसे वशी जानना चाहिये।

(४) सम्पूर्ण शरीर त्वचा से आवृत्त होने के कारण आत्मा शरीर रूपी पिंजरे में बन्द रहता है। अतः केवल शरीर का उसे पूरा ज्ञान रहता है। अर्थात् जिसका स्पर्श होता है, उस पदार्थ का ज्ञान कर सकता है। इससे भिन्न छिपी वस्तु आदि का ज्ञान नहीं कर सकता है परन्तु यह सर्वगत तथा महान् है, इसीलिए इसे विभु कहते हैं। यह योग तथा समाधि द्वारा दीवार एवं पर्वतादि से छिपी वस्तु को भी देख सकता है। कर्मानुवर्ती होने से दूसरी देह में भी गमन कर सकता है। मन के साथ आत्मा का नित्य सम्बन्ध होने से वह अनेक योनियों में गमन कराता हुआ भी एक ही योनि में रहने के समान हैं।

शरीर क्षेत्र तथा आत्मा क्षेत्रज्ञ कहलाता है। ऐसा गीता का भी वचन है, "दं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" पुनः यह शंका हो सकती है कि पहले क्षेत्र था या क्षेत्रज्ञ ? यदि क्षेत्र को पहले माने तो आत्मा का अनादित्य समाप्त हो जायेगा और यदि क्षेत्रज्ञ पहले हुआ तो जब क्षेत्र ही नहीं था तो यह ज्ञाता किसका कहा जायेगा ?

वास्तव में क्षेत्रज्ञ आत्मा अनादि है और क्षेत्र की परम्परा भी अनादि है, पुनः जब दोनों अनादि हैं तो कौन पहले हूआ यह प्रश्न ही नहीं उठता है। मनुष्य के सम्पूर्ण भावों का साक्षी भी यह आत्मा ही है।

चिकित्सक किस रोग की चिकित्सा करता है-

अर्थात् संसार गमनशील है, अतः परिवर्तनशील है। इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के भाव भी परिवर्तनशील हैं। शरीर के (वात, पित्त, कफ) दोषों का भी क्षण में परिवर्तन आवश्यक हैं, पुनः चिकित्सक भूत, भविष्य तथा वर्तमान इनमें से किस रोग की चिकित्सा करता है ?

चिकित्सक तीनों कालों के रोगों की चिकित्सा करता है। इसका वर्णन महर्षि चरक ने इस प्रकार किया है कि—सिर की पीड़ा का एक बार शान्त होकर पुनः प्रकट हो जाना तथा ज्वर, कास, वमन आदि का एक बार शान्त होकर फिर प्रकट होना अतीतागमन कहलाता है। अतीत कालीन व्याधियें पुनः आकार उपस्थित हो जाती है। उनका दौर होने पर अतीतकाल के लक्षणों के आधार पर ही चिकित्सा की जाती है। अतः यह अतीत व्याधि की चिकित्सा है। पिछले वर्ष नदी में बाढ़ आयी थी, जिससे फसल को हानि हो गई थी, आने वाले बरसात में पुनः फसल नष्ट न हो जाये, इसके लिए बांध बाँधकर रक्षा का उपाय किया जाता है। ठीक इसी प्रकार रोग के पूर्व रूप देखकर उसके प्रकट होने के पूर्व ही क्रिया करना भविष्य व्याधि की चिकित्सा है।

इस प्रकार वर्तमान व्याधि की चिकित्सा में कोई आक्षेप नहीं हो सकता है। परम्परा से जो अनुबन्ध चला आ रहा है। अर्थात् क्षण क्षण में रोग जो कष्ट दे रहा है, चिकित्सा द्वारा वह शान्त किया जाता है। यथार्थ में समधातुयें बिना कारण विषम नहीं होती और विषम धातुयें समान नहीं होती। अर्थात्—जैसे हेतुओं का संयोग होता है, वैसी ही धातुयें हो जाती हैं इसलिये इन धातुओं की अवस्था देखकर औषध आहार आदि का प्रयोग वर्तमान व्याधि की चिकित्सा है। उपरोक्त युक्तियों के आधार पर तीनों कालों की चिकित्सा वैद्य कर लेता है और चिकित्सा नैष्ठिकी (रोगनाशनी) चिकित्सा कहलाती है।

देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण—

कर्त्ता करणों की सहायता से कर्म करता। यह व्यवहार में भी देखा जाता है कि मिट्टी से घड़ा बनता है, लकड़ी से मेज, कुर्सी आदि बनते हैं। किन्तु इनका बनाने वाला कुम्हार एवं बढ़ई होता है और ये लोग भी तब तक अपना कार्य नहीं कर सकते जब तक इनके पास चक्र, चेवर तथा आरी, वसूला आदि उपकरण न हो।

इसी प्रकार आत्मा मन, बुद्धि बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय इन सब करणों से युक्त होकर सम्पूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। इन किये हुए कर्मों का फल भी स्वयं साधन सम्पन्न आत्मा ही भोगता है। जिस शरीर के द्वारा वह कर्म करता है वह शरीर नष्ट हो जाता है परन्तु कर्त्ता वह आत्मा वही रहता हैं, पुन शरीर युक्त होकर कर्मों का फल भोगता हैं। ऐसा कोई कर्म नहीं जिसका फल न हो और ऐसा भी नहीं हो सकता कि करे कोई और भोग दूसरा भोगे। इसी लिये आत्मा कर्त्ता तथा फल का भोक्ता मानना चाहिए।

आत्मा ज्ञानवान् है अथवा नहीं–

आत्मा-ज्ञानवान है। परन्तु करणों के सयोग से ही उसका ज्ञान प्रकट होता है, वह करण मन, बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियें हैं। करण भी जब निर्मल होते हैं तथा उनका योग जब विषयों के साथ होता है तभी ज्ञान हो सकता है। जैसे दर्पण धूल युक्त हो, जल में काई जमी हो तो प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता है, उसीं प्रकार मन आदि करणों के मलिन होने पर भा ज्ञान उत्पन्न नहीं होता हैं।

आत्मज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं तस्यप्रवर्तते।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वतते॥

पश्यपोऽपि यथादर्शे सक्लिष्टे नास्मि दर्शनम्।
यद्वज्जले वा क्लुषे चेतस्युपहते तथा॥ चरक शा०॥

आत्मा का साक्षित्व---

आत्मा ज्ञाता होने से साक्षी कहलाता है। क्योंकि अज्ञ साक्षी नहीं हो सकता है अतः मनुष्य के सम्पूर्ण भावों का साक्षी आत्मा ही है।

मनुष्य को सुख दुःख अनुभव होते हैं उनका कारण न इन्द्रियां हैं और न विषय ही है। अपितु इनसे साथ हीन, मिथ्या, अति और समयोग ही वेदना के कारण होते हैं। अर्थात् तीनं प्रकार का हीन, मिथ्या, अतियोग दुःख का कारण और समयोग सुख का कारण होते हैं। यद्यपि सुख दुःख आत्मा इन्द्रिय मन और बुद्धि के गोचर हैं। परन्तु कर्म के संयोग बिना वे नहीं हो सकते हैं। अर्थात सुख दुःख का संयोग इनके साथ कर्म ही कराता है।

जैसे स्पर्शनेन्द्रिय का संस्पर्श और मानस संस्पर्श यह दो प्रकार के स्पर्श रूपी कर्म ही सुख दुःख रूपी ज्ञान के प्रवर्तक हैं। पुनः सुख दुख से इच्छा द्वेष मयी तृष्णा उत्पन्न होती है। वही तृष्णा सुख दुःख का कारण मानी जाती है। मन और मनयुक्त शरीर, वेदना का अधिष्ठान है स्पर्श रहित अवयवों में वेदना नहीं होती है। जसें नख, रोम आदि।

इन सम्पूर्ण वेदनाओं की समाप्ति योग तथा मोक्ष में होती है। अर्थात योग और मोक्ष में किसी प्रकार के दुःखादि उत्पन्न नहीं होते हैं। मोक्ष में तो विशेष रूप से दुःख निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक है। जब आत्मा में

इस प्रकार यथावत ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब सम्पूर्ण कामादि वेदना, ज्ञान, विज्ञान, अज्ञान, विशेष रूप से समाप्त हो जाते हैं। फिर यह आत्मा परब्रह्म भाव को प्राप्त होकर शरीरादि भावों से रहित हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण भावों से मुक्त सर्वसन्यी पुरुष का कोई चिन्ह बाकी नहीं बचता है। इस अवस्था का ज्ञान ब्रह्म ज्ञानियों को ही होता है। साधारण जीव किसी प्रकार भी इस दशा का ज्ञान नहीं कर सकते हैं।

मनो निरूपण

व्युत्पत्ति--

मनज्ञाने धातु से मन्यते=ज्ञायते इस विग्रह में मन शब्द सिद्ध होता है। मन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए महर्षि कणाद ने निम्नलिखित युक्ति दी है—

आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम् ॥वै० सू०॥

अर्थात आत्मा इन्द्रिय और विषय इन तीनों के रहते हुये कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी २ ज्ञान नहीं होता है। यह ज्ञान का होना और न होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। यह कारणन्तर ही मन है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये आत्मा इन्द्रिय और विषय ही पर्याप्त कारण नहीं है। मन की सहायता भी आवश्यक हैं।

श्रोत्राधव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् वाह्येन्द्रियैरगृहीत
सुखादि ग्राह्यान्तर भावाच्च अन्त:करणम् (प्रशस्तपादभाष्य)

अर्थात् बहुत से ज्ञान ऐसे हैं जो वाह्य इन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होते हैं। स्मृति ज्ञान के लिए नेत्रादि वाह्य इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती हैं। अन्धे बहरे आदि में भी स्मृति ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सुख-दुःख आदि का अनुभव भी वाह्य इन्द्रियों पर निर्भर नहीं होता है। ऐसे ज्ञानों के लिए किसी अन्य इन्द्रिय को मानना पड़ेगा यही इन्द्रिय मन है।

सुख दुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मन: (तर्क संग्रह)

आत्मा को श्रोत्रादि इन्द्रियों और शब्दादि विषयों से सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है और कभी नहीं भी होता है। यह ज्ञान का होना और न होना मन की सिद्धि में प्रमाण है। यह मन जब इन्द्रिय

से संयुक्त होता है तब इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करने से समर्थ होती है। और सानिध्य न होने पर ज्ञान नहीं होता है।

लक्षण मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सतिह्या मेन्द्रियार्थानां सन्निर्षेकनवर्तते ॥
वैकृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यातच्च वर्तते ॥ चरक शा० ॥

मन स्पश शून्य और क्रियाधिकरण है। इन दो लक्षणों से मन का पृथक् निर्देश हो जाता है। स्पर्श शून्य कहने से पृथ्वी आदि द्रव्य छुट जाते है। शेष बचे अदृश्य द्रव्य, उनमें क्रियाधिकरण कहने से आकाश, काल, दिशा और आत्मा का भी बहिष्कार हो जाता है। अतः इस परिभाषा में अध्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आ सकता है।

एक काल में होने वाले सम्बन्ध का नाम युगपत् सम्बन्ध है। जब आत्मा के प्रयत्न से श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्दादि विषयों से युगपत् सम्बन्ध होता है। तब किसी एक विषय का ज्ञान होने पर भी अन्य विषयों का ज्ञान नहीं होता है। अर्थात् शब्द ज्ञान काल में गन्ध ज्ञान और गन्ध ज्ञान काल में शब्द ज्ञान का अभाव होता है। अतः आत्मा, इन्द्रिय और विषयों का सम्बन्ध होने पर भी जिसके रहने से ज्ञान होता है और न रहने से ज्ञान नहीं होता है वह ज्ञान का हेतु मन है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ वै० द० ॥

सबका भाव यही है कि आत्मा, मन आदि का सम्बन्ध होने पर ही ज्ञान होता है। इसी लिए व्यवहार में कहा भी जाता है कि मेरा मन कहीं और विषय में लगा था अतः आपका कहना नहीं सुना। महर्षि चरक ने इसी बात का स्पष्टीकरण निम्नलिखित गद्य से किया है।

मनः पुरः सराणि–इन्द्रियार्ण्थ ग्रहण समर्थानि भवन्ति। तदर्थात्म-सम्पदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्यय भूतमिन्द्रियाणाम् ॥ चरक सू० ८ ॥

महाभारत शान्ति पर्व में भी इसी उद्देश्य का समर्थन मिलता है।

चक्षुः पश्यतिरूपाणि मनसा न च चक्षुषा।
मनसः व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥
यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते।
नचेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ॥ म० भा० शा० ॥

उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के ज्ञान के लिये मन ही श्रेष्ठ साधन है।

सुश्रुत में मन की गणना ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों में की गई है। क्योंकि अन्य इन्द्रियों के साथ सात्विक अहंकार से इसकी उत्पत्ति होती है अत: मन इन्द्रिय कहलाता है और ज्ञानेन्द्रियों के सम्पर्क में आने पर ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के सम्पर्क में आने पर कर्मेन्द्रिय कहलाता है "उभयात्मक मन:" (सु० शा०) इस प्रकार भी ज्ञानेन्द्रियों के साथ इसका अधिक सम्पर्क होने से यह छठा इन्द्रिय भी कहलाता है जैसे—

मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। भगवद्गीता ।।

मन के गुण—

अणुत्वमथ चैकत्व द्वौ गुणौ मनस: स्मृतौ ।। चरक शा० ।
प्रयत्नायोगपद्यात् ज्ञानायोगपद्याच्चैकम् ।। कणाद सू० ।।

अर्थात् एक समय में एक ही ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। इसी प्रकार एक समय में दो प्रकार के प्रयत्न भी नहीं किये जा सकते हैं यदि शरीर में अनेक मन होते तो एक साथ कितने ही ज्ञान होने लगते और भिन्न भिन्न प्रयत्न भी एक साथ हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं होता है, एक समय में दो बातें नहीं सोची जा सकती हैं तथा एक समय में दो कार्य भी नहीं किये जा सकते हैं। इससे विदित होता है कि एक शरीर में एक ही मन रहता है। यह मन प्रति शरीर में अणु रूप रहता है। यह मन पारद कण के समान चंचल तथा विद्युत के समान तीव्र है।

यहाँ शंका उठती है कि क्या एक ही समय में हमें अनेक बातों का ज्ञान नहीं होता है ? मान लीजिये हम बगीचे में घूम रहे हैं। सामने रंग-बिरंगे फूलों को देख रहे हैं उनकी भीनी-भीनी सुगन्ध हमें प्रतीत हो रही है। पास ही से संगीत की ध्वनि भी सुनाई दे रही है। यहाँ रूप, गन्ध और शब्द तीनों का ज्ञान हमको हो रहा है।

किन्तु यथार्थत: कारण कुछ और है। रूप, गन्ध और शब्द इन तीनों को हम एक साथ ग्रहण नहीं कर सकते हैं। जब हमारा ध्यान रूप पर होता है तब गन्ध पर नहीं, जब गन्ध पर आता है तब शब्द पर नही। किन्तु हमारा ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु पर इतना शीघ्र दौड़ता है कि हमें उनके बीच में समय का कुछ भी अन्तर नहीं ज्ञात होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि एक साथ सभी ज्ञान हो गये।

इस बात को इस दृष्टान्त से समझा जा सकता है। मान लींजिये आप एक लड्डू खा रहे हैं। यहां आपको हाथ से लड्डू का स्पर्श, नेत्रसे रूप नासिका

द्वारा लड्डू की गन्ध, जिह्वा द्वारा स्वाद और कान से भक्षण का शब्द यह पाँचों ज्ञान एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं ।

मन इतनी शीघ्रता से एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय पर दौड़ता जाता है कि आपको सभी इन्द्रिय ज्ञान एक साथ प्रतीत होते हैं । शत दल कमल को सुई से छेदें तो सुई तुरन्त इस पार से उस पार हो जायेगी । अब विचार कीजिये, क्या सभी दल एक साथ छिद गये । देखने से प्रतीत होगा कि सभी दलों को सुई एक साथ छेदकर निकल गई । वास्तव में ऐसी बात नहीं है, एक के पश्चात ही दूसरे दल में छेद हुआ है । किन्तु दो दलों के बीच का अन्तर इतना सूक्ष्म है कि स्थूल दृष्टि से उसका बोध नहीं हो पाता है । इसी प्रकार मन की क्रियाओं में इतना कम समय लगता है कि सभी क्रियाएं एक साथ हुई प्रतीत होती हैं । अत: मन एक समय में एक ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और मन एक ही है ।

स्वार्थेन्द्रियार्थ संकल्प व्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिनपुरुषे सत्वं रजस्तम: सत्वगुणयोगाच्च, न चानेकत्वमेकं, एक कालमनेकेषु प्रवर्तते । तस्मान्नैक काला सर्वेन्द्रिय प्रवृत्ति: ।।चरक सू० ८।।

मनोव्याकरणात्मकं ।। महाभारत ।।

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के सम्बन्ध में वकील की तरह अमुक ऐसा है और अमुक ऐसा नहीं है । इत्यादि सारा सार विचार बुद्धि के समक्ष कार्या-कार्य निर्णय के लिये व्यवस्थित रूप से रखने का कार्य मन का है और बुद्धि द्वारा निर्णय प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्मेन्द्रियों द्वारा काम कराने का कार्य मन ही करता है । इस प्रकार विस्तार एवं व्यवस्था करना व्याकरण कहलाता है । क्योंकि यह कार्य मन के द्वारा होता है । इसलिये मन को व्याकरणात्मक कहा गया है ।

मन के विषय एवं कर्म—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं संकल्पनेव च ।
यत्किञ्चन्मनसोज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ।।
इन्द्रियाभिग्रह: कर्म मनस:स्वस्य निग्रह: ।
ऊहो विचारश्च तत: परं बुद्धि: प्रवर्तते ।।चरक शा०।।

अर्थात् चिन्तन करना, विचार करना, तर्क वितर्क करना, ध्येय बनाना, संकल्प करना आदि मन के विषय हैं । मन ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियों के सम्पर्क द्वारा ही केवल ज्ञान तथा कर्म दो प्रकार का कार्य करता हो, ऐसी बात नहीं

है। इनके अतिरिक्त मन चिन्तन विचार आदि कार्य भी स्वयं कर लेता है। इसी लिए इसको अतीन्द्रिय भी कहते हैं। इन्द्रियां तो अपने नियत विषयों को ही ग्रहण करती है, परन्तु मन सम्पूर्ण इन्द्रियों के द्वारा सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। मनन करने से मन, अनुसंधानात्मक प्रवृत्तियों के कारण यह मन चित्त कहलाता है।

(१) बिना इन्द्रियों की सहायता के किसी विषय का चिन्तन चिन्ता कहलाता है। (२) किसी विशेष के गुण तथा दोषों का ज्ञान विचार कहलाता है। विचार तत्व निर्णय को कहते हैं। (३) शास्त्रानुकूल तर्क द्वारा एक पक्ष का खण्डन दूसरे पक्ष का समर्थन आदि परीक्षण की ऊहा कहते हैं। (४) एकाग्र मन से किसी विषय का चिन्तन करना ध्यान कहलाता है। (५) गुण दोषों से सम्बन्धित कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय कर अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये यही कार्य करना है, इसे संकल्प कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मन सर्वप्रथम विषय का चिन्तन करता है। तत्पश्चात चिन्तित विषय के गुण दोषों का ज्ञान करता है। पुन: तर्क द्वारा एक निश्चित सिद्धान्त बनाता है जिसे निर्णय कहते हैं। इस निर्णय के पश्चात वह एकाग्रतया उस विषय में प्रवृत्त होता है और अन्त में उस विषय को प्राप्त करने का संकल्प कर लेता है।

इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त कराना तथा अहिय विषयों से रोकना मन कार्य है। इतना ही नहीं स्वयं अपने ऊपर भी निग्रह करता है। अर्थात् इन्द्रिय निग्रह एवं स्वयं का निग्रह यह दो कार्य मन ही करता है।

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धि: निश्चतात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ चरक शा० ॥

मनोविज्ञान

अब प्रश्न उठता है कि मन क्या वस्तु है ? इसके उत्तर में श्री वशिष्ट जी का कथन है कि सर्वशक्तिशालिनी माया से सबल असीम आत्म तत्व का संकल्प शक्ति से रचित जो रूप है वही मन है। आत्मा के चिद्रूप होने के कारण सदा भासित होने पर भी मैं आत्मा को नहीं जानता, यह प्रतीति एवं निष्क्रिय आत्मा में कर्तत्व की प्रतीति जिससे होती है, वही मन है। इस लोक में जैसे गुणी का गुण से रहित होना सम्भव नहीं है। अग्नि तथा उष्मा का पृथक् २ अस्तित्व नहीं हैं, इसी प्रकार मन और कर्म का तथा जीव और मन का पृथक् रहकर अस्तित्व नहीं है। तात्पर्य यह है कि जीव और मन अभिन्न हैं और मन बिना कर्म के नहीं रहता है। यह एक मात्र संकल्प रूप जो मन है उसके ही कारण शून्य, मायामय, वासनारूपी कल्पनाओं से व्याप्त नानाविध इस विश्व का विस्तार किया हुआ है।

यह मन सर्वइन्द्रियता को धारण कर विविध प्रकार के ज्ञान तथा कार्यों को कर लेता है और उन कार्यों के अनुसार एक ही मन के विविध नाम पड़ जाते हैं। जैसे मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, वासना, विद्या, प्रयत्न स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया, आदि अनेक शब्दोक्तियां ब्रह्म में कल्पित की गई है। अकस्मात् अपने-अपने स्वरूप का विस्मरण होने से अपनी अपरिच्छिन्न चिदेकरसत्ता का अनुभव न करने वाले वाह्य कल्पना में उन्मुख चित्त के ये सब नामान्तर किये गये हैं। (योग वा०)

(१) अविद्या के कारण कलङ्कित परम चैतन्य हो जब स्फुरण रूप को प्राप्त करता है और यह इस प्रकार है, अथवा इस प्रकार का नहीं है ? ऐसा विकल्प रूप नाना प्रकार का हो जाता है। तब मनन करने से उसका नाम मन होता है।

(२) उक्त शुद्ध चेतन जब प्रथम ही अथवा विकल्प के पश्चात् विशेष भावना प्राप्त कर उस विकल्प के दो भागों में से अनुसंधान का निश्चय कर सुस्थिर होकर यह वस्तु ऐसी हैं ? इस निर्धारण में समर्थ होता है। तब बुद्धि नाम से पुकारा जाता है।

(३) जब इस तुच्छ शरीर में आत्माभिमान करने से अपनी सत्ता को मानता है, तब अभिमान से अहंकार कहलाता है। यही अहंकार सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है और बन्धन का कारण भी है।

(४) जब वह शुद्ध चेतना पूर्वापर के अनुसन्धान का त्याग कर बालक के समान एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय का स्मरण करता है। तब उसे चित्त कहते हैं।

(५) क्योंकि कर्त्ता एक मात्र स्पन्द धर्म से युक्त होता है। अतः जब वह चेतन ही वास्तव में असत स्पन्द रूप गुण से कर्ता को गुणी बनाकर शरीर और उसके अवयवों में संयोग करने के लिए दौड़ता है, अर्थात् उसका कर्म विषमता की ओर झुकाव होता है। तब उसे कर्म कहते हैं।

(६) जब वह अपने स्वरूप को भूलकर अर्थात् ज्ञान का त्याग कर अपनी इच्छित विषय की ओर ध्यान लगाता है। तब उसे कल्पना कहते हैं।

(७) जब किसी पूर्व अनुभूत पदार्थ का, इसे पहले मैंने देखा है। इस प्रकार की अभिलाषा करता है तब उसे स्मृति कहते हैं।

(८) जब उसकी अन्य चेष्टाओं का अन्त होकर किसी अतिसूक्ष्म भाव में प्रवृत्ति होती है तब उसे वासना कहते हैं।

(६) जब वह अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेता है अर्थात् अविद्या रूप प्रपञ्च की समाप्ति कर सच्चे स्वरूप का ज्ञान कर लेता है तब उसे विद्या कहते हैं।

(१०) जब शुद्ध चेतन आत्मस्वरूप के अत्यन्त अदर्शन के लिए स्फुरण को प्राप्त होता है तब वह मल नाम से पुकारा जाता है। आत्म स्वरूप का विस्मरण करता है अतः विस्मृति कहलाता है। तात्पर्य यह है कि आवरण शक्ति से मल और विक्षेप शक्ति की प्रधानता से विस्मृति नाम धारण करता है।

(११) जब अपने ही स्वरूप के विनाश के लिये इसकी स्फुरणा होती है तो प्रयत्न कहा जाता है और विविध वस्तुओं का आवरण करता है तो स्मृति कहलाता है।

(१२) मनः स्वरुप हुआ वह शुद्ध चेतन जब इन्द्रियों के व्यापार से आत्मा को आनन्दित करता है अर्थात विषयभोगों का अनुभव कराता है। तब इसे इन्द्रिय कहते हैं।

(१३) परमात्मा के अन्दर अभिन्न कर्ता रूप से सृष्टि की रचना करता है इसलिए सब पदार्थों की प्रकृति कहा जाता है।

(१४) ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त कर सत्ता एवं असत्ता का विकल्प रूप होने से माया नाम धारण करता है।

इस प्रकार मन के सभी विचार तथा प्रपंच लीलामात्र है। मन का क्रमिक उदय सृष्टि का क्रमिक विकास (Evolution) और मन का क्रमिक अस्त सृष्टि का क्रमिक विनाश (Involution) या लय है। मन की पवित्रता से मोक्ष तथा अपवित्रता से बन्धन होता है।

फिर भी यह मन अपनी इच्छा से वासनाओं में पड़कर बन्धन में पड़ता है और दु:खी होकर बन्धन से भागने की चेष्टा करता है। अर्थात यह रेशम के कीड़े के समान स्वयं अपने लिये जाल बुनता है और जब उसमें फंस जाता है तो अपने को नि:सहाय अनुभव करता है।

स्वयं प्रहरति स्वान्तं स्वयमेव स्वयेच्छया।
पलायते स्वयं चैव पश्याऽज्ञानविजृम्भितम् ॥३६॥

स्ववासनोपतप्तानि सर्वाण्येव मनांसि हि।
स्वयमेव पलायन्ते गन्तुं युक्तानि तत्पदम् ॥३७॥

यदिद विततं दु:ख तत्तनोति स्वयं मन:।
स्वयमेवाति खिन्नंतु पुनस्तस्मात्पलायते ॥३८॥

संकल्प वासना जाले: स्वयमायात्ति बन्धनम्।
मनो लालामयै र्जालै कोशकारकृमिर्यथा ॥३९॥ योगवाशिष्ठ

श्रीमद्भागवत् ग्यारहवें स्कन्द में भी मन के विलक्षण कार्यों का वर्णन मिलता है जो इस प्रकार हैं—यह मनुष्य देवता, आत्मा ग्रह, कर्म अथवा काल कोई भी सुख दु:ख के कारण नहीं है। केवल एक मन ही है जो संसार चक्र में भ्रमण कराता है। अत्यन्त बलवान् यह मन गुणों की वृत्तिया उत्पन्न करता है। गुणों से सात्विक, राजस और तामस कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही जन्म होते हैं, इस प्रकार मन ही संसार चक्र में भ्रमण कराता है।

दान धर्म नियम, आचार आदि सभी सत्कर्म केवल मन के निग्रह के लिये किये जाते हैं, क्योंकि मन का वश में हो जाना सबसे बड़ा योग है। सम्पूर्ण इन्द्रियां मन के वश में हैं, किन्तु मन किसी के वश में नहीं है। यह मन सम्पूर्ण बलधारियों से महाबलवान् और भयङ्कर देव हैं, इसीलिये जो मन को वश में कर सके वही देवों का देव है। मन रूपी शत्रु कठिनता से जीता जा सकता है, इसका वेग असह्य होता है। यह मार्मिक वेदना पहुंचाने वाला शत्रु है। केवल मन की कल्पना से ही देह को अहंता पूर्वक और सम्बन्धियों की देह को ममता के साथ स्वीकार करके अन्ध बुद्धि मनुष्य इस भ्रम में पड़े रहते हैं कि "यह मैं हूँ और यह तू है"। बस इसी कारण से वे अनन्त अपार संसार में भटकते रहते हैं। मित्र, शत्रु, उदासीन और यह सम्पूर्ण संसार भी अज्ञान के कारण अपने मन की भ्रान्ति से ही उत्पन्न हुआ है।

नायं जनो मे सुख दु:ख हेतुर्नदेवताऽत्माग्रह कर्म काला: ।
मन: परकारणमामनन्ति संसार चक्रं परिवर्तयेद्यत् ।।
मनोगुणान्वै सृजते बलीयस्तश्च कर्माणि वलक्षणानि ।
शुक्लानिकृष्णान्यथलोहितानि तेभ्य: सवर्णा: सृतयोभवन्ति ।।
दानं स्वधर्मो नियमोयमश्च श्रुतानिकर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनो निग्रह लक्षणांता: परोहि योगो मनस: समाधि: ।।
मनोवशेऽन्य ह्यभवन् स्मदेवा मनश्च नान्यस्य वश समेति ।
भीष्मो हि देव: सद्दश: सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं सहि देव देव: ।।
श्रीमद्‌भागवत् स्क० (११) ४३-४४-४६-४८ ।।

कल्पना—

यह संकल्प प्रधान मन सर्वप्रथम भूत तन्मात्राओं की कल्पना करता है । तदनन्तर इस संसार का विस्तार करता है जो असत्य होने पर भी सत्य जैसा प्रतीत होता है । जिस प्रकार स्वप्न में नगर आदि का भ्रम होता है उसी प्रकार चित्त द्वारा यह कल्पित संसार भी भ्रम मात्र है । जैसे आग की चिनगारी घृत तैल आदि मिलने से अपनी स्वाभाविक प्रकाशता को प्राप्त होती है वैसे ही वह मन वासना की दृढ़ता से अहंकार को प्राप्त होता है । वायु के स्पन्द के समान स्फुरित हुआ अहंभाव मन दैशिक और कालिक परिच्छेद करता है तथा स्वयं संकल्प वश देहादि आकार धारण करता है । यह संकल्पात्मक चित्त संकल्प से भूत तन्मात्राओं को प्राप्त कर तेज: कण बन जाता हैं और यह तेजस्वी कण आकाश में तारे के समान प्रतीत होता है । जैसे बीज अपने स्पन्दन से धीरे २ अंकुरित होता है, वैसे ही मन अपने स्पन्दन से पाँच तन्मात्रा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय आदि सम्पूर्ण शरीर की कल्पना करता है और देह को धारण कर लेता है ।

कल्पना के कारण यह मन देह जन्म के हेतु अन्न रसों से उनके द्वारा माता पिता के शरीरों से एकता को प्राप्त होकर धीरे २ स्वर्ग, मोक्ष, वध बंधन आदि के कारण भूत देहभाव को प्राप्त होता है और जब यह चित्त हट जाता है तब यह जगत् भी विनष्ट हो जाता है ।

मन की कल्पना का व्यावहारिक दृष्टि से बड़ा महत्व है । क्योंकि मन जिस वस्तु की कल्पना करता है, उसको देखता है । उस पदार्थ की भावना से युक्त चित्त जिस वस्तु की कल्पना करता है, वह सत् हो या असत् हो उसको अवश्य देखता है और देखने पर सत्य के समान ही मानकर वह पदार्थ व्यवहार का उपयोगी बन जाता है । प्रत्येक व्यक्ति के विकास के लिए कल्पना का

विशेष महत्व है, क्योंकि विराट मन जिस प्रकार कल्पना द्वारा इस विश्व की सृष्टि का निर्माण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में स्थित मन कल्पना के आधार पर ही अपनी सृष्टि का निर्माण कर सकता है। इस कल्पना के आधार पर ही विचारों का विकास होता है और जिस व्यक्ति के विचारों का विकास विशेष रूप से होता है वही दूरदर्शी एवं कार्य के भावी परिणाम को जानने वाला हो सकता है।

स्वभावानुकूल कल्पनायें व्यक्ति को उन कार्यों में लगाती है। कल्पनाओं का प्रभाव हमारे स्वास्थ्य पर भी विशेष रूप से पड़ा करता हैं। सुन्दर कल्पनायें स्वास्थ्य वर्धक होती हैं और अभद्र कल्पनायें स्वास्थ्य को बिगाड़ती हैं। क्योंकि मन तथा शरीर का घनिष्ट सम्बन्ध है अतः मन का प्रभाव शरीर पर एव शरीर का प्रभाव मन पर पड़ता है। मन स्वस्थ हो तो शरीर भी स्वस्थ रहता है और शरीर स्वस्थ हो तो मन भी प्रसन्न रहता है।

मनोविश्लेषण के आधार पर मन की तुलना पानी में पड़े बर्फ के टुकड़े से की गई है। जिस प्रकार बर्फ के टुकड़े का अधिक भाग पानी में नीचे रहता है उसी प्रकार मन का अधिकांश भाग छिपा हुआ रहता है और पानी के ऊपर बर्फ का जो अल्प भाग होता है उसी प्रकार मन का अल्प भाग ही स्पष्ट रूप से रहता है। मन के छिपे हुए भाग को अदृश्य मन तथा प्रकट भाग को दृश्य मन समझना चाहिये।

मन की दृश्य और अदृश्य अवस्था का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण से समझाया गया है। जैसे—हम नाटक करते हैं तो उसके लिये रंगमंच बनाते हैं जिसमें परदे लगे होते हैं नाटक के पात्र परदे के पीछे रहते हैं जब जिसका पाठ होता है तो वह परदे के आगे आ जाता है, इस प्रकार क्रमशः प्रत्येक पात्र अपने २ पाठ को प्रस्तुत करने के लिये परदे के आगे आता रहता है। इनका संचालन परदे के पीछे से होता है। ठीक इसी प्रकार अदृश्य न परदे के पीछे है, उसमें स्थित वासनायें क्रमशः दृश्य मन में आती रहती हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि सभी वासनायें एक साथ आगे आ जायें। इस व्यवस्था को बनाये रखने के लिये मन के तीन विभाग स्वीकार किये गये हैं।

(१) चेतन मन (२) अचेतन मन (३) नियन्ता मन। यह क्रमशः परदे के सामने वाला पात्र, परदे के पीछे वाला पात्र और नियन्ता मन सूत्रधार का कार्य करता है। यह नियन्ता मन अदृश्य मन की वासनाओं पर नियन्त्रण रखता है, अर्थात् जो वासना अनुकूल होती है उसे दृश्य मन तक आने देता है और जो अनुकूल नहीं होती उन्हें रोक देता है।

यह रोकी गई अदृश्य वासनायें मन की जाग्रत अवस्था में तो तृप्ति नहीं पा सकती किन्तु स्वप्नावस्था में तृप्ति पाने की चेष्टा करती है। वास्तव में विविध प्रकार के स्वप्न इन्हीं अतृप्त वासनाओं के फल हैं।

स्वप्न–

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में स्वप्न का वर्णन सुन्दर ढंग से किया गया है। चरक के अनुसार जब दिन भर के कार्य से इन्द्रियाँ थक कर विश्राम पाने की चेष्टा करती हैं, उस समय इन्द्रियाँ तो अपने २ कार्यों से विरत हो जाती हैं किन्तु मन फिर भी कार्य पर रहता है। ऐसी अवस्था में नींद आने पर भी मन विषय परक होने से अनेक प्रकार के स्वप्न देखता है। अर्थात् निद्रावस्था में भी मन सोता नहीं है।

जब गाढ़ निद्रा नहीं होती तो मन द्वारा सफल तथा फल रहित अनेक प्रकार के स्वप्न मनुष्य देखता रहता है। और भी जब मनोवाही श्रोतों में दोषों का प्रभाव बढ़ जाता है, अर्थात् जब तीनों दोष मनोवाही श्रोतों को आवत्त कर देते हैं तो मनुष्य दारुण स्वप्न देखता है।

सर्वेन्द्रिय व्युपरतो मनोऽनुपरतं यदा।
विषयेभ्यस्तदा स्वप्न नानारूप प्रपश्यति ।।चरक।।
नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान्पश्यत्यनेकधा ।।चरक।।
मनोवहानां पूर्णत्वात् दोषैरतिवलैस्त्रिभिः।
स्रोतसांदारुणान्स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ।।चरक।।

प्रसस्तपाद के मत में स्वप्न तीन कारणों से होते हैं—(१) संस्कार पाटव (२) धातुदोष (३) अदृश्य। कामी अथवा क्रोधी व्यक्ति जिस विषय का चिन्तन करते हुए सोता है, उसकी चिन्तासन्तति स्वप्न में प्रत्यक्ष दिखाई देती है। वात प्रकृति अथवा जिसका वायु कुपित हो गया हो वह स्वप्न में आकाश में गमन करता है। पित्त प्रकृति पुरुष अग्नि प्रवेश, स्वर्ण पर्वत आदि तथा कफ प्रकृति नदी, समुद्र आदि का स्वप्न देखते हैं। अदृष्ट से विचित्र स्वप्नों का उदय सर्व विदित है।

मन का स्थान–

चरक सुश्रुतादि आयुर्वेदिक ग्रन्थों में मन का स्थान हृदय एवं मस्तिष्क बताया गया है। अष्टाङ्ग हृदय में भी "सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम्"

अर्थात् सत्वादि का स्थान हृदय है जो स्तन और उर:कोष्ठ: के मध्य में स्थित है। "हृदय चेतना स्थानमुक्त सुश्रुत देहिनाम्" अर्थात् शरीरधारियों का हृदय चेतना का स्थान है। (सुश्रुत)

षडङ्गमङ्ग विज्ञान मिन्द्रियाण्यर्थ पञ्चकम् ।
आत्मा च सगुश्चेत सर्व च हृदि संस्थितम् ।। चरक ।।

अर्थात् छ: अङ्ग अङ्गों का ज्ञान करने वाली इन्द्रियाँ, उनके अर्थ सगुण आत्मा और मन यह हृदय में अवस्थित रहते हैं। साथ ही मस्तिष्क भी मन का स्थान है ऐसा वर्णन भी चरकादि ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है। जैसे—प्राणा: प्राणभत्ता यत्र श्रता: सर्वेन्द्रियाणि च, यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते (चरक सू०) ।

अर्थात् जहां पर सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण अवस्थित रहते हैं एवं जहां पर सभी ज्ञानेन्द्रियां भी केन्द्रित हैं, जो शरीर का उत्तम अङ्ग है वह शिर है। इसी प्रकार सुश्रुत के अनुसार भी गर्भ में पहले शिर बनता है, क्योंकि प्रधान इन्द्रियां शिर में ही केन्द्रित हैं (शौनक) इस प्रकार काश्यप संहिता, अष्टाङ्ग हृदय, भेल संहिता आदि ग्रन्थों से भी यही वर्णन प्राप्त होता है। आधुनिक विज्ञान मस्तिष्क को ही ज्ञान का केन्द्र मानता है इस आधार पर कई लोग हृदय को भो मस्तिष्क ही मानकर वास्तविक अर्थों का अनर्थ करते हैं इस सम्बन्ध में वास्तविक निर्णय श्री रामरक्ष जी पाठक महोदय ने अपने पदार्थ विज्ञान में किया है जो अत्युपयुक्त प्रतीत होता है। वास्तव में एक वस्तु एक साथ दो स्थानों पर नहीं रह सकती है और यह सम्भव नहीं कि उपरोक्त प्राचीन ग्रन्थों का वर्णन असङ्गत हो, अत: हृदय एवं मस्तिष्क दोनों ही मन के स्थान हैं किन्तु मन का कार्य करने का स्थान मस्तिष्क और विश्राम करने का कार्य हृदय है। हृदय में रहकर मन कार्य नहीं करता है जैसे—अपने व्यक्तिगत स्थान पर जज फैसला नहीं दे सकता है, अपने कार्यालय में ही फैसला सुनाया जा सकता है, ऐसे ही मन भी मस्तिष्क में पहुंचकर ही शरीर की सम्पूर्ण क्रियाओं का सम्पादन करता है। योग आदि के वर्णन से भी सिद्ध होता है कि जब मन बाह्य इन्द्रियों से विरत हो जाता है तो वह हृदय में अवरूद्ध होकर समाधिस्थ हो जाता है।

हृदय से मनोवाही स्रोतों द्वारा मन मस्तिष्क में पहुंकर संज्ञावह चेतनावह स्रोतों से सम्पूर्ण शरीर को चैतन्यता प्रदान करता है। अब इस वणन में एक बात मेरे विचार में यह भी आई है कि मन तथा चेतना का स्थान

विविध ग्रन्थों में हृदय बताया गया है उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि मन और आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मन के आत्मा की चैतन्यता का प्रकाश नहीं होता है। अत: दोनों को एक साथ ही लिया जाता है। वास्तव में चेतना सर्व शरीर व्यापी है, वह शरीर के अणु अणु में व्याप्त है। मन के द्वारा वह अभिव्यक्त होती है यही कारण है कि मूर्च्छा, सन्यास आदि अवस्थाओं में शरीर में चेतना रहते हुए भी शरीर अचेतन सा प्रतीत होता है। इसका यही कारण है कि मन बड़ा चंचल है, जब वह समझता है कि शरीर रूपी घर में विकार उत्पन्न हो गया है और वह विकार भयङ्कर है तो मन हृदय में अपने निवास गृह में छिप जाता है और प्रतीक्षा करता है कि उक्त विकार ठीक होता है अथवा नहीं यदि खतरा टल जाता है तो मन पुन: अपने कार्यालय में आ जाता है और तत्काल शरीर में चैतन्यता प्रकट हो जाती है। इसी बात को न्याय ने इस सूत्र से प्रकट किया है कि "यदा मन: पुरिततिनाडयां प्रविशति तदा सुषुप्ति: यदा नि:सरति तदा ज्ञानोत्पति:" अर्थात जब मन हृदयस्थ पुरितति नामक नाड़ी के अन्दर प्रविष्ट होता है तो सुषुप्ति और जब वहाँ से निकलता है तो ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता का यह मान्य सिद्धान्त भी यही सूत्रित करता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्धय च।
मूर्द्धन्याधायात्मन: प्राणमास्थितो योगधारम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
य: प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमांगतिम्॥

विविध उपनिषदों में चेतना का स्थान हृदय ही माना गया है।

"अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्यजन्तो र्निहितो गुहायाम्" (कठोपनिषद् १-२) "मनोमय: प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय" (मुण्डकोपनिषद् २) "स य एषोऽन्तर्हृदय आकाश: तस्मिन्नय पुरुषो मनोमय:" (तैतरीय उ० १-६)

भगवद्गीता में हृदय को ही आत्मा का स्थान बताया है। "ईश्वर: सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति" (भ० गीता १८-६७) हृदय स्थित आत्मा ज्ञानवाही स्त्रोतों द्वारा पाँच ज्ञानेन्द्रियों के सहयोग से ज्ञान प्राप्त करता है। यह ज्ञान आत्मा को मन के सहयोग से होता है। इसलिये ज्ञान ग्रहण करने में मन

ही प्रधान कारण है जो एक होता हुआ पांच बार पांच इन्द्रियों के सम्पर्क में जाकर पांच प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। सुश्रुत में इसे स्पष्ट किया है कि पाँच इन्द्रियों में प्रसृत नाड़ियां आत्मा को पांच इन्द्रियार्थों में संयोजित करती है और इस प्रकार विनाश काल तक आत्मा को इन्द्रियार्थों के साथ मिल कर शरीर विनाश के समय (स्वयं) पंचत्व को प्राप्त होती है।

पंचाभिभूतास्त्वथ पंचकृत्वः ।
पंचेन्द्रिय पंचसुभावयन्ति ॥
पंचेन्द्रियं पंचसु भावयित्वा ।
पंचत्वमायान्ति विनाश काले ॥ सुश्रुत अ० ६ ॥
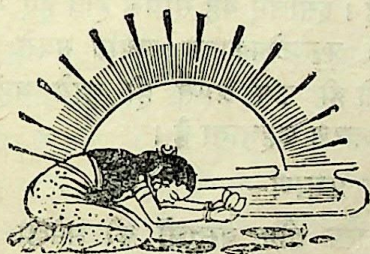
प्रमाण विज्ञान

प्रमाण–

प्रमाण का अर्थ है, "प्रमायाः करणं प्रमाणम्" अर्थात जो प्रमा का करण हो वही प्रमाण है। यहां प्रमा और करण दो शब्द हैं, इनमें प्रमा का अर्थ है "तद्वति तत्प्रकारकानुभवः प्रमा" अर्थात जो वस्तु जैसी है उसमें उसी प्रकार का ज्ञान होना प्रमा कहलाता है। जैसे वालुकामय जमीन को वालुमय ही समझना यथार्थ ज्ञान है। यही प्रमा कहलायेगा। किन्तु इसके विपरीत यदि उस वालु राशि में जल की धारा का ज्ञान हो तो यह ज्ञान अयथार्थ ज्ञान या अप्रमा कहलायेगा।

तदभाववतितत्प्रकारकानुभवः अप्रमा ॥ तर्क संग्रह ॥

संक्षेप में यथार्थ अनुभव को प्रमा और अयथार्थ अनुभव को अप्रमा कहते हैं।

करण—क्रिया की सिद्धि में जो उपकरण सहायक होता है वह साधन कहलाता है। जैसे हिरण को बेधकर मारने में धनुष, बाण प्रत्यञ्चा शिकारी का हाथ यह सब सहायक होते हैं। अतः यह सभी साधन कहलाते हैं। परन्तु इन सभी साधनों में भी सबसे चरम साधन कौन है? धनुष, प्रत्यञ्चा और शिकारी का हाथ उपकारक होते हुए भी दूरवर्ती कारण हैं, इनमें और क्रिया के फल में व्यवधान है। इसलिए यह साधक होते हुए भी साधकतम नहीं है। जो साधन क्रिया का प्रकृष्टोपकारक अर्थात सबसे अधिक समीपवर्ती हो, जिसका व्यापार होते ही फल प्राप्त हो जाये वही साधन अर्थात बाण साधकतम कारण या करण कहलाता है।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण–

प्राम का अस्तित्व तीन वस्तुओं की अपेक्षा रखता है वे यह हैं— (१) प्रमाता (२) प्रमेय (३) प्रमांण।

प्रमाता ज्ञान का अर्थ है जानना। यह जानने की क्रिया किसी चेतन में ही हो सकती है। अतः बिना ज्ञाता के ज्ञान नहीं होता है। यही ज्ञाता जो कि ज्ञान विशेष का आधार है। प्रमाता कहलाता है।

प्रमेय—जब भी होगा, वह किसी न किसी विषय का ही होगा। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है अर्थात जिस विषय का ज्ञान होता है, वह विषय प्रमेय कहलाता है।

प्रमाण जानने वाला भी हो और ज्ञेय पदार्थ भी हो, किन्तु जानने का साधन ही न हो तो ज्ञान नहीं होगा। सामने मेज है, परन्तु अन्धे को

उसका ज्ञान नहीं हो सकता है इसलिये ज्ञाता और विषय के साथ ज्ञान प्राप्ति का साधन भी होना चाहिए। यही साधन प्रमाण कहलाता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमाया, प्रमेय और प्रमाण यह तीनों मिलकर ही ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं।

प्रमाण का लक्षण–

जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है, वह प्रमाण कहलाता है। "प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् प्रमाणम्" (वात्स्यायन) दूसरे शब्दों में विषय ज्ञान का हेतु प्रमाण कहलाता है। "अर्थोपलब्धि हेतुः प्रमाणम्" (न्यायवार्तिक)।

प्रमाण का महत्व–

संसार में किसी भी विषय का प्रतिपादन करने के लिये प्रमाण आवश्यक है। प्रमाण ही ज्ञान का मापक तुलादण्ड है। कोई ज्ञान सत्य है या असत्य इसकी परीक्षा प्रमाण से ही होती है। जैसे तराजू के पलड़े पर किसी वस्तु का तोल निर्धारित किया जाता है उसी प्रकार प्रमाणरूपी मानदण्ड पर ज्ञान का मूल्य आँका जाता है। बिना प्रमाण के कोई भी पदार्थ मान्य नही समझा जाता है, इसीलिये न्याय शास्त्र में प्रमाण का महत्व सर्वोपरि है तथा न्याय शास्त्र को इसी आधार पर प्रमाण शास्त्र भी कहा जाता है।

प्रमाणों का फल–

प्रमाणों का फल प्रमेय सिद्धि है, अर्थात यथार्थ ज्ञान होना ही प्रमाणों का फल है। जैसे प्रत्यक्ष से हमें घट का ज्ञान हुआ। उस समय घट में ज्ञातता नामक अपूर्व उत्पन्न होता है, तब ही उस ज्ञान को प्रामाणिक मानते हैं। इसी प्रकार किसी भी प्रमाण द्वारा जब हमें विषय का ज्ञान होता है तो विषय में ज्ञातता उत्पन्न होती है और यह ज्ञान प्रमाण माना जाता है। नैयायिकों के मत में प्रमाण का फल आत्म संवित्ति है। वे जब प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा किसी विषय का ज्ञान करते हैं तो उस ज्ञान के पश्चात अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे घट के प्रत्यक्षानन्तर "घटमहंजाना म" इस प्रकार का अनुव्यवसायात्मक ज्ञान उत्पन्न हुआ, तदनन्तर उस ज्ञान सम्बन्ध से आत्मा में संवित्ति उत्पन्न हुई। तब अन्त में ज्ञान प्रामाणिक माना गया है। यही प्रमा का फल है।

अर्थात सृष्टि के दृष्ट अदृष्ट सभी प्रकार के पदार्थों का ज्ञान प्रमाणों से ही होता है। किन्तु कुछ ज्ञान अयथार्थ भी होते हैं उनमें यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही प्रमाणों का फल है।

प्रमाणों की संख्या—

प्रमाण कितने हैं, इस सम्बन्ध में भिन्न २ दर्शनकारों के भिन्न २ मत हैं। प्रमाणों की संख्या एक से दस तक मानी गयी है। चार्वाक् एक ही प्रमाण मानते हैं। वह है प्रत्यक्ष। बौद्ध तथा वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान। सांख्य-प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यह तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं नैयायिक उपरोक्त तीन प्रमाणों के अतिरिक्त चौथा उपमान प्रमाण भी मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक इन चार प्रमाणों के साथ अर्थापत्ति पाँचवाँ प्रमाण और जोड़ देते हैं। भट्टमीमांसक और वेदान्ती इन पांचों के अतिरिक्त छठा प्रमाण अभाव या अनुपलब्धि मानते हैं। पौराणिक सम्भव तथा एतिह्य नामक दो प्रमाण और मानकर प्रमाणों की संख्या आठ मानते हैं। तान्त्रिक लोग ९ वां प्रमाण चेष्टा और कुछ १० वां परिशेष भी मानते हैं।

दर्शन	प्रमाण	संख्या
१—चार्वाक्	प्रत्यक्ष	१
२—वैशेषिक	प्रत्यक्ष, अनुमान	२
३—सांख्य	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द	३
४—न्याय	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान	४
५—प्रभाकर मीमांसक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति	५
६—भाट्ट मीमांसक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव	६
७—पौराणिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, सम्भव, एतिह्य	८
८—तान्त्रिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव सम्भव, एतिह्य, चेष्टा	९

आयुर्वेद में न्याय तथा सांख्यानुमत प्रमाणों को ही ग्रहण किया गया है महर्षि चरक ने चार प्रमाणों का उल्लेख किया है। तथा—द्विविधं खलुसर्वं सच्चासच्चेति। तस्य चतुर्विधा परीक्षा। आप्तोपदेशः प्रत्यक्षं, अनुमानं, युक्तिश्चेति॥ (च० सू० ११) अर्थात जगत में दो ही प्रकार के पदार्थ हैं भाव अर्थात सत पदार्थ और अभाव अर्थात असत। इन दोनों को जानने के लिए चार ही उपाय हैं ? अर्थात इस ज्ञान के लिए चार प्रकार की परीक्षायें है। आप्तोपदेश द्वारा, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति द्वारा।

सुश्रुत में भी चार ही प्रमाणों का लेख मिलता है। जैसे—

"तस्याङ्गवरमाद्यमागम प्रत्यक्षानुमानोपमानैरविरूद्ध मुच्यमान मुपधारय" (सु० सू० १)

अर्थात आयुर्वेद के उस श्रेष्ठ और आदि अंग का मैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इन चार प्रमाणों से प्रदर्शित करते हुए जो उपदेश कर रहा हूँ तुम लोग धारण करो।

परन्तु आगे चलकर चरक ने विमान स्थान में केवल तीन प्रमाणों पर ही विशेष जोर दिया है। वास्तव में नैयायिकों ने भी बुद्धि के विभाग में तीन ही प्रकार प्रदर्शित किये हैं। प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी और शाब्दी बुद्धि। प्रत्यक्षा बुद्धि का साधन प्रत्यक्ष, लैङ्गिकी बुद्धि का साधन अनुमान और शाब्दी बुद्धि का साधन शब्द प्रमाण है। इससे विदित होता है कि आयुर्वेद में प्रधानतः तीन ही प्रमाणों को ग्रहण किया गया है। यद्यपि चरक सुश्रुत में यत्र तत्र चार प्रमाणों का वर्णन मिलता है। तथापि उनका वर्णन प्रसंगवश किया गया, प्रतीत होता है। सुश्रुत के चार प्रमाण गौतम के अनुसार और चरकोक्त चार प्रमाण प्रसंगवश गिनाने पर भी शांख्य सम्मत तीन ही प्रमाणों को प्रधानता दी गई है। उपमान का अनुमान के अन्दर समावेश किया गया है। चरक ने युक्ति प्रमाण को अनुमान प्रमाण की अनुग्राहिका मात्र बतलाया है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में भी प्रमाणों के सम्बन्ध में मतभेद है। पाश्चात्य दर्शन जब विश्व के स्वरूप तथा वस्तु स्थिति का अध्ययन करता है तो उसको भी अपने निर्णय के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए विश्व के ज्ञान से ही सन्तुष्ट न होकर उस ज्ञान को सत्य अर्थात् यथार्थ रूप में प्रतिपादन करने के लिए प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है। इसको पाश्चात्य वैज्ञानिक एपिस्टेमोलोजी (Epestemology) या प्रमाण मीमांसा कहते हैं। यह वह शास्त्र है जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस शास्त्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि पाश्चात्य दार्शनिक प्रधानतः प्रत्यक्ष (Perception) तथा अनुमान (Inference) इन दो प्रमाणों को ही यथार्थ ज्ञान का साधन मानते हैं। अन्य प्रमाणों में शब्द तथा उपमान का प्रयोग यत्र तत्र हुआ तो है किन्तु इसका वह स्थान नहीं जो भारतीय दर्शनों में मिलता है।

"Western Philosophy has generally recognised two ultimate sources of knowledge immediate knowledge or perception and mediate knowledge or inference."

"Six ways of knowings" By D. M. Dutta

प्रत्यक्षमेकं चार्वाका: कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्या: शब्दश्चते उभे॥

न्यायेकदेशिनोऽप्येव मुपमानञ्च केवलम् ।
अर्थापत्यासहेतानि चत्वर्यायाहुः प्रभाकराः ॥
अभाव षष्ठान्येतानि भट्टावेदान्तिनस्तथा ।
सम्भवैतिह्य युक्तानि इतिपौराणिका जगुः ॥ वेदान्तकारिका ॥
चेष्टाऽपि प्रमाणान्तर मिति तान्त्रिकाः ॥ सर्वदर्शन संग्रह ॥

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष का अर्थ—

प्रति+अक्षणः अर्थात जो आँख के सामने हो, अथवा "अक्षमक्षं प्रतीत्यौपत्यते इति प्रत्यक्षम्" अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा इन इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विवाद और निरपेक्ष होता है। वह किसी दूसरे प्रमाण पर निर्भर नहीं रहता है, अन्य प्रमाण इसी की अपेक्षा रहते हैं। अर्थात् अन्य सभी प्रमाणों का मूल प्रत्यक्ष ही है। ।'इन्द्रियर्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान प्रत्यक्षम्" अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) कर्मेन्द्रिय (२) ज्ञानेद्रिय। शरीर के दो अवयव क्रिया करने में सहायक होते हैं उन्हें कर्मेन्द्रिय और जो ज्ञान प्राप्ति में सहायक होते हैं उन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। हाथ, पैर, गुदा, लिङ्ग और वाणी यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं तथा चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना और त्वचा यह ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनसे क्रमशः रूप, गन्ध, शब्द, रस और स्पर्श का ज्ञान होता है। इनके आधार भूत द्रव्य पृथ्वी आदि पाँच महाभूत हैं। जिन इन्द्रियों को हम देखते हैं वास्तव में इन्द्रियाँ न होकर इन्द्रियों के अधिष्ठान हैं। विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय दिखाई नहीं देती है इनका ज्ञान अनुमान से होता है।

चरक के अनुसार इन्द्रियाँ अनुमेय हैं और आयुर्वेद इन्द्रियों को भौतिक मानता है। यद्यपि सम्पूर्ण शरीर पाँच भौतिक है किन्तु इन्द्रियों में जिसमें जिस महाभूत की अधिकता होती है उसी के नाम से वह इन्द्रिय पुकारी जाती है तथा उसी महाभूत के विषय का वह ग्रहण भी करती है। जैसे—चक्षु में तेज, घ्राण में पृथ्वी, श्रोत्र में आकाश, जिह्वा में जल, त्वचा में वायु महाभूत की विशेषता होती है।

"तत्रानुमान गम्यानां पञ्चमहाभूत विकार समुदायत्मकानामपि सतामिन्द्रियाणा तेजश्चक्षुषि श्रोत्रेनभः घ्राणेक्षितिरापोरसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपदिश्यते" (चरक सू० ८)

इस प्रकार विषय का इन्द्रिय से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से जब सन्निकर्ष (संयोग) होता है तब तत्काल जो बुद्धि उत्पन्न होती है। उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं।

आत्मेन्द्रिय मनोर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
व्यक्तातदात्वेयाबुद्धिः प्रत्यक्षंसानिरुच्यते ॥ चरक सू० ११ ॥

इन्द्रियार्थ संयोग—

पदार्थ का इन्द्रिय के साथ जो सम्बन्ध है उसे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कहते हैं। सन्निकर्ष ६ प्रकार के होते हैं—(१) संयोग (२) संयुक्त समवाय (३) संयुक्त समवेत समवाय (४) समवाय (५) समवेत समवाय (६) विशेषण विशेष्य भाव।

(१) संयोग—दो वस्तुओं का ऐसा सम्बन्ध जो अलग हो सकता है संयोग कहलाता है। जब आँख का गुलाब के फूल से सम्बन्ध होता है तो यह संयोग सन्निकर्ष कहलाता है।

(२) संयुक्त समवाय—सयोग अनित्य सम्बन्ध है किन्तु समवाय नित्य सम्बन्ध को कहते हैं। जब आँख का गुलाब के रंग से सम्बन्ध होता है तो उसे संयुक्त समुदाय सन्निकर्ष कहते हैं। क्योंकि आँख से संयुक्त गुलाब में उसका रंग समवेत है।

(३) संयुक्त समवेत समवाय—रंग की जाति का प्रत्यक्ष करने में संयुक्त समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है। जैसे आंख से संयुक्त गुलाब में उसका रंग समवेत है और रंग का अपनी जाति से समवाय सम्बन्ध होता है।

(४) समवाय—कान से शब्द का प्रत्यक्ष करने में समवाय सन्निकर्ष होता है। क्योंकि शब्द आकाश का गुण है। कान में भी कर्णविबर आकाश है अतः शब्द का कान के साथ समवाय सम्बन्ध होता है।

(५) समवेत समवाय—शब्द में उसकी जाति समवेत रहती है। जब कोई शब्द सुनाई देता है तो उसके साथ उसकी जाति भी प्रत्यक्ष होती है। अतः कान से शब्द की जाति का प्रत्यक्ष करने में समवेत समवाय सन्निकर्ष होता है।

(६) विशेषण विशेष्य भाव—घट के अभाव का प्रत्यक्ष करने में विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है। हम अभाव के प्रत्यक्ष में वस्तु के आधार का प्रत्यक्ष कहते हैं। हम देखते हैं कि जमीन पर घड़ा नहीं है।

"घटाभाववत् भूतलम्" अर्थात भूतल घट के अभाव वाला है। यहां भूतल विशेष्य और घटाभाव विशेषण है। हम विशेष्य के साथ-साथ विशेषण भी देखते हैं। अत: ऐसे प्रत्यक्ष में विशेषण विशेष्य भाव सन्निकर्ष होता है।

इस प्रकार सिद्ध हुआ है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त एक और द्रव्य है, जिसके न रहने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता, वह है मन, यह मन इन्द्रिय और आत्मा के बीच में रहकर सन्देशवाहक का कार्य करता है। इन्द्रिय ज्ञान लेकर आती है और मन उसको ग्रहण कर आत्मा तक पहुंचाता है। अत: आत्मा मनसा संयुज्यते। मनइन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेन। (न्या० सू०)

प्रत्यक्ष के भेद–

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है–(१) सविकल्पक और (२) निर्विकल्पक।

सविकल्पक – वह प्रत्यक्ष जिसमें वस्तु के आकार-प्रकार का पूर्ण ज्ञान हो सविकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है।

निर्विकल्पक—जिसमें यह विदित न हो कि वस्तु क्या है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहलाता है, जैसे कुछ है। पाश्चात्य दर्शन में वस्तु के ज्ञान के अवसर पर जो सन्सेसन (Sensation) और परसेप्सन (Perception) में अन्तर बताया है वही अन्तर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक में भी विदित होता है।

सविकल्पक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—(१) लौकिक और (२) आलौकिक, लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार से ग्रहण होता है। (१) बाह्य इन्द्रिय द्वारा (२) अन्तरिन्द्रिय द्वारा।

वाह्य प्रत्यक्ष पांच प्रकार से होता है जो पांच ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण किया जाता है। इसी प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष आवश्यक है आभ्यन्तर केवल एक ही प्रकार का है। इसे मानस प्रत्यक्ष कहते हैं इस प्रकार लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का हो जाता है।

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष–

इसके सम्बन्ध में मतभेद है, वैयाकरणी निर्विकल्पक ज्ञान की सत्ता नहीं मानते हैं। वेदान्ती निर्विकल्पक को ही ज्ञान कहते हैं। किन्तु न्याय वैशेषिक मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं और दोनों को सत्य मानते हैं। इसी लिये गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में दो विशेषण दिये हैं। "इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमपदेश्य मव्यभिचारिव्यदसायात्मकं प्रत्यक्षम्" अव्यपदेश्य का अर्थ है

अनिवर्चनीय अर्थात संज्ञा ज्ञान से रहित अव्यवसायात्मक का अर्थ है, असंदिग्ध अर्थात निश्चित, यह घड़ा है, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान व्यवसाय कहलाता है। यदि इस प्रत्यक्ष ज्ञान का भी मानस प्रत्यक्ष हो, अर्थात मैं देख रहा हूँ यह घड़ा है तो यह अनुव्यवसाय कहलाता है। इन्हीं शब्दों से नैयायिक निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों ज्ञानों का अर्थ निकलते है।

अलौकिक प्रत्यक्ष--

गंगेश उपाध्याय तीन प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष मानते हैं—(१) सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति (२) ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति (३) योगज।

सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति–

यह वस्तु को देखने पर उसकी सजातीय सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होना सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति कहलाता है। जैसे एक गाय को देखकर उसके सम्पूर्ण वर्ग या जाति का ज्ञान हो जाता है तथा चूल्हे की आग को देखकर उसका स्पर्श कर आग की उष्णता का ज्ञान हुआ। किन्तु अन्य स्थानों की आग का स्पर्श प्रत्यक्ष रूप से न करने पर भी सभी आगों की उष्णता का ज्ञान सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति से हो जाता है। यह सामान्य ज्ञान अलौकिक सन्निकर्ष द्वारा हुआ। प्राचीन नैयायिकों का कथन है कि सामान्य अर्थात जाति का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के साथ संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से होता है। परन्तु नव्यन्याय सामान्य ज्ञान के लिए साधारण इन्द्रिय सन्निकर्ष को पर्याप्त नहीं मानता है। इसलिए अलौकिक सन्निकर्ष का आश्रय लेता है।

ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति–

वह अलौकिक सन्निकर्ष है जिसके द्वारा इन्द्रिय संयोग न होने पर भी केवल विषय को देखकर उसके गुणों का ज्ञान स्वयमेव हो जाता है। जैसे—बर्फ को देखने से बर्फ की शीतलता का ज्ञान बिना छुये ही हो जाता हैं। यहा त्वचा का संयोग हुआ ही नहीं, फिर शीतलता का ज्ञान कैसे हुआ। चक्षु तो स्पर्श का ज्ञान कर नहीं सकती। अत: साधारण सन्निकर्ष से यह ज्ञान नहीं हो सकता है। इस लिये यहाँ अलौकिक सन्निकर्ष (ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति) मानना पड़ता है।

योगज–

हमारी इन्द्रियाँ सीमित हैं, अत: उनके द्वारा हम सब प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। सूक्ष्म परमाणु तथा दीवाल के पीछे की वस्तु प्रत्यक्ष नहीं

देखी जा सकती है भूत तथा भविष्य की बातों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इन सबका ज्ञान समाधि एवं प्रणिधान से योगी लोग प्राप्त कर लेते है। इसे योगराज प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा–

जिस विषय का पहले प्रत्यक्ष हो चुका है, उसका पुनः प्रत्यक्ष होने से प्रत्यभिज्ञा होती है। साधारण प्रत्यक्ष इन्द्रियों से होता है। किन्तु प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय और पूर्व संस्कार दोनों के योग्य से उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष के रहते अन्य प्रमाणों की आवश्यकता क्यों हुई ?

क्योंकि कभी-कभी आँख से देखा या कान से सुना हुआ भी असत्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन्द्रियाँ स्वयं अनुमेय हैं। उनका ही प्रत्यक्ष नहीं होता है, जिसके द्वारा हम प्रत्यक्ष करते हैं। इसके अतिरिक्त भूत एवं भविष्य का ज्ञान भी प्रत्यक्ष द्वारा असम्भव है। मनुष्य की आयु सीमित है, अतः थोड़ी सी आयु में सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान होना भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ नहीं है। वर्तमान के ज्ञान में भी सभी प्रकार का प्रत्यक्ष नहीं होता है इसके कारण निम्न हैं।

प्रत्यक्ष के बाधक–

रूप युक्त वस्तु का भी प्रत्यक्ष कभी-कभी कुछ अवस्थाओं में नहीं हो पाता जैसे अत्यन्त समीप होने से अपनी आँख का काजल नहीं दिखाई देता है। ऐसे ही अधिक दूर होने से भी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है और बीच में कोई दीवाल या परदा हो तो उसके पीछे की वस्तु का भी ज्ञान नहीं हो सकता है। इन्द्रियों में तथा मन में विकार हो जाने पर या इनके दुर्बल होने पर भी प्रत्यक्ष होने में कठिनाई होती है। विषय के साथ इन्द्रिय, मन और आत्मा का एक साथ संयोग न होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। एक समान वस्तुओं के आपस में मिल जाने से जैसे चावलों के ढेर में एक चावल डाल दें तो उसे ढूँढा नहीं जा सकता है। सूर्य के प्रकाश में तारे दिखाई नही देते हैं, इसलिये यह कहना कि प्रत्यक्ष से ही ज्ञान हो जायेगा, ठीक नहीं है। इसी प्रकार चार्वाक सिद्धान्त के अनुयायियों का भी खण्डन हो जाता है। वे यदि केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधन मानते हैं तो उन्हें विश्व का पूर्ण ज्ञान, भूत भविष्य का ज्ञान आदि नहीं हो सकते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्पूर्ण ज्ञान का चौथाई भी नहीं है फिर उस पर भी उपरोक्त परिस्थितियों में प्रत्यक्ष भी नहीं होता है। अतः यह कहना कि प्रत्यक्ष ही से काम चल जायेगा अप्रामाणिक है।

वास्तव में हम अधिकांश ज्ञान अपने अथवा किसी के प्रत्यक्ष किये गये आधार पर कुछ लक्षणों से कुछ शास्त्रों, इतिहासों से प्राप्त करते हैं। लिङ्ग या चिह्न के आधार पर जो ज्ञान किया जाता है वह अनुमान है। अनुमान से हम आत्मा, परमाणु आदि का ज्ञान उनके लक्षणों के आधार पर कर लेते हैं। इसी प्रकार आप्त पुरुषों के प्रत्यक्ष के आधार पर हम बीती हुई बातों का ज्ञान भी कर लेते हैं।

इसलिए पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान शब्द आदि प्रमाणों की आवश्यकता होती है। प्रत्यक्ष से ही काम नहीं चल सकता है। सताञ्च रूपाणामतिसन्निकर्षादतिविप्र कर्षादावरणात् करणादौर्बल्यान्म-नोऽनवस्थानात्समानाभिहारादभिभवाद तिसौक्ष्म्याच्च प्रत्यक्षानुपलब्धिः" (चरक सू० ११)

अनुमान प्रमाण

अनु का अर्थ है पश्चात्, मान का अर्थ है ज्ञान, अतः अनुमान का शब्दार्थ हुआ पश्चात् ज्ञान। यदि एक बात को जानने के पश्चात् उसी के द्वारा किसी दूसरी बात का भी ज्ञान हो जाये उसे अनुमान कहते हैं। जैसे—दूर पर्वत पर धुआं उठ रहा है। इस धुएँ को देखकर हम यह समझते हैं कि पर्वत पर आग है। यहाँ धुआँ तो प्रत्यक्ष है, किन्तु आग प्रत्यक्ष नहीं है। बात ऐसी है कि धुआँ आग का चिह्न निशान है और इस चिह्न को हमने पहले कई बार रसोई घर में आग के साथ देखा है। इसलिए धुआं आग का पूर्ण सूचक (पक्का गवाह) है ओर यह धुआँ दूर कहीं भी दिखाई दे तो हमें आग का ज्ञान तत्काल हो जाता है। अनुमान का मूल प्रत्यक्ष ज्ञान है। क्योंकि लक्षण प्रत्यक्ष देखने में आता है। अतः अनुमान इस लक्षण के आधार पर ही किया जाता है।

अनुमान का लक्षण—

लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। "तल्लिङ्गिलिङ्गपूर्वकम्" (न्यायवार्तिक) "अनुमितिकरणमनुमानम्" (तर्कसंग्रह) अन्नभट्ट कहते हैं कि अनुमिति करण (साधन) को अनुमान कहते हैं।

अनुमिति—परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। "परामर्शजन्यं ज्ञामनुमिति"।

परामर्श—व्याप्ति सहित पक्ष धर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं।

व्याप्ति—जहां-जहां धुआं है, वहाँ-वहाँ अग्नि है। इस प्रकार के साहचर्य (एक साथ रहने का नियम) ज्ञान को व्याप्ति कहते हैं। इससे उत्पन्न हुआ

यह ज्ञान कि पर्वत पर आग हैं, अनुमिति कहलाता है। अनुमिति का करण (साधन) ही अनुमान है।

अनुमान करने से पूर्व साध्य और साधन को जानना आवश्यक है। अनुमान के द्वारा हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं अर्थात् जो बात निकालना चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं और जिस लक्षण के बल पर ऐसा अनुमान किया जाता है, उसे हेतु या साधन कहते हैं। जिस स्थान पर हेतु को देखकर साध्य का अनुमान किया जाता है। वह स्थान पक्ष कहलाता है।

"पर्वतोऽयं वह्निमान धूमवत्वात्" इस वाक्य में पर्वत पक्ष, वह्निमान साध्य धूमात् यह हेतु है।

व्याप्य—हेतु को ही व्याप्य, साधन या लिङ्ग कहते हैं और साध्य का दूसरा नाम व्यापक है।

पक्षधर्मता—व्याप्य अर्थात साधन का पर्वत आदि किसी स्थान पर वर्तमान रहना पक्षधर्मता कहलाता है।

लिङ्ग परामर्श--

अब अनुमान कैसे किया जाता है ?

सर्वप्रथम हमने देखा कि (१) पर्वत पर धुआं उठ रहा है (पक्षधर्मता) तब हमें स्मरण हुआ कि (२) जहाँ-जहाँ धुआँ रहता है वह आग रहती है। (व्याप्ति) जब तक व्याप्ति ज्ञान नहीं था तब तक धुआँ केवल धुआं ही था। किन्तु व्याप्ति ज्ञान होते ही उसमें विशेष महत्व आ गया। क्योंकि अब वह केवल धुआँ ही नहीं रहा अपितु आग का परिचायक भी हो गया। इसलिये पहाड़ पर धुआं उठ रहा है। प्रथम यही साधारण ज्ञान हुआ था, किन्तु अब पर्वत पर अग्नि सूचक धुआँ उठ रहा है। यह विशिष्ट ज्ञान हो गया है, इसी विशिष्ट ज्ञान को परामर्श या लिङ्ग परामर्श कहते हैं। अर्थात व्याप्ति ज्ञान और पक्ष धर्मता ज्ञान इन दोनों के मिलने से जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसे परामर्श है।

व्याप्ति का विशिष्ट लक्षण--

व्याप्ति का अर्थ है विशेष रूप से आप्ति या सम्बन्ध। यह विशिष्ट सम्बन्ध दो वस्तुओं का नियत साहचर्य है साहचर्य का अर्थ है, दो वस्तुओं का एक साथ रहना। जैसे जल और मछली, परन्तु जल और मछली नियत रूप से एक साथ नहीं रहते हैं। मछली बिना जल के और जल बिना मछली के भी पाया जाता है अर्थात् यह दोनों एक सरे से अलग भी रह सकते हैं।

इसी को व्यभिचार कहते हैं। "एकत्राव्यवस्था व्यभिचारः" इसी को अपवाद भी कहते हैं। जिस साहचर्य सम्बन्ध में व्यभिचार या अपवाद न हो उसे व्याप्ति कहते हैं। जैसे धूम तथा अग्नि में नियत साहचर्य होता है। धूम कभी भी अग्नि से पृथक् नहीं रह सकता है, इस नियम का कभी अपवाद भी नहीं होता है। अर्थात् धूम एकान्तिक है।

यथा—"व्यभिचार ज्ञान विरहसकृतं हेतु साध्यसहचारदर्शन व्याप्ति ग्राहकं भवति" इसी बात को इस प्रकार भी समझ सकते है कि धूम अग्नि के बिना नहीं रहता है। इस लिये धूम का अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है उसे अविनाभाव कहते हैं। अर्थात जब एक वस्तु दूसरी वस्तु के बिना न रह सके तो इसे अविनाभाव समझना चाहिए। जहां अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं रहेगा। क्योंकि उसका अस्तित्व अग्नि पर ही निर्भर है। इसी अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते है।

संक्षेप में व्याप्ति सम्बन्ध को नियत साहचर्य, अव्यभिचरित सम्बन्ध, ऐकान्तिक भाव अथवा अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं।

"अनौपाधिकों सम्बन्ध व्याप्तिः" अर्थात जिस सम्बन्ध में उपाधि न हो उसे ही व्याप्ति समझना चाहिए उपाधि का अर्थ है कि—

उपसमीपवर्तिनि आदधाति स्वीकीयं रूपम् इति उपाधिः।

अर्थात जो समीपवर्ती पदार्थ में अपना रूप दिखाये वह उपाधि है। जैसे गुलाब के फूल के निकटवर्ती स्फटिक में जो लालिमा की झलक दिखाई पड़ती है वह स्फटिक की अपनी लालिमा न होकर औपाधिक है। वह तो उपाधि के संसर्ग से उसे प्राप्त हुई है। उपाधि के हट जाने पर वह भी समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार धूम के साथ अग्नि सर्वत्र पाई जाती है किन्तु अग्नि के साथ धूम सर्वत्र नहीं पाया जाता है। क्योंकि अग्नि के साथ धूम का पाया जाना एक दूसरी बात पर निर्भर करता है। वह है गीली कड़ी का संयोग यही आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है।

मान लीजिए हम सिद्ध करना चाहते हैं कि जलते हुए लोहे में धूम होगा क्योंकि वहाँ अग्नि है। यहाँ अग्नि हेतु देखकर हम धूम (साध्य) की सिद्धि करना चाहते हैं, किन्तु यहाँ हेतु (अग्नि) में साध्य (धूम) व्यापक नहीं है। क्योंकि उसमें उपाधि लगी हुई है। यह उपाधि धूम (साध्य) के साथ सर्वदा पाई जाती है, किन्तु अग्नि (साधन) के साथ सर्वदा नही पायी जाती है। अर्थात अग्नि का धूम के साथ जो सम्बन्ध है वह उपाधिग्रस्त नहीं है, किन्तु धूम उपाधिग्रस्त होने से अग्नि के साथ सर्वत्र नहीं रहता है। अतः

धूम अग्नि में व्यापक नहीं है, अग्नि धूम में व्यापक हैं। इसी उपाधि रहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं।

व्याप्ति ग्रहोपाय–

व्याप्ति के सम्बन्ध में एक विचारणीय प्रश्न और है, वह है व्याप्ति का ज्ञान। हमें व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान कैसे होता है इसके उत्तर में नैयायिकों का कथन है कि "भूयोदर्शनात्" अर्थात् बार बार दो वस्तुओं का साहचर्य देखने से व्याप्ति का बोध होता है। किन्तु केवल इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। बार बार देखने से कई स्थानों पर भले ही अग्नि और धूम का सम्बन्ध देखने में आये, किन्तु कहीं एक स्थान पर भी धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध नहीं पाया जाए तो व्याप्ति कट जाती है। अतः सहचार के साथ-साथ व्यभिचार का अभाव होना भी आवश्यक है।

"व्यभिचार ज्ञान विरह सहकृतं सहचारज्ञानम्"

धूम के साथ अग्नि का साहचर्य मिलता है। व्यभिचार कहीं जैसे तालाब में धूम नहीं तो वहां अग्नि भी नही है।

अनुमान के भेद–

प्रयोजन के आधार पर अनुमान दो प्रकार का होता है—

(१) स्वार्थानुमान (२) परार्थानुमान

स्वार्थानुमान—अपने सशय की निवृत्ति के लिए जो अनुमान किया जाता है उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति रसोई घर में धूम और अग्नि का सम्बन्ध देखकर यह निश्चय करले कि जहां २ धूम है वहाँ २ अग्नि है। किसी पर्वत पर धूम देखकर उपरोक्त व्याप्ति को स्मरण कर यह ज्ञात कर लेता है कि वहां पर आग हैं। इस लिङ्ग परामर्श द्वारा वह यह ज्ञान प्राप्त करता है कि पर्वत पर आग है। यही स्वार्थानुमान है।

परार्थानुमान—जब कोई व्यक्ति स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान कर दूसरों को समझाने के लिये निम्नलिखित पांच वाक्यों का प्रयोग करता है तो उसे परार्थानुमान कहते हैं।

जैसे—पर्वत पर आग। यह प्रतिज्ञा है।

क्योंकि वहां धूम है। यह हेतु है।

जहां २ धूम है वहाँ २ अग्नि है, जैसे रसोई घर में, यह उदाहरण है।

यहाँ भी वैसे ही है जैसे रसोई घर में उपनय है।

इसलिये यहाँ पर आग है। जैसे रसोई घर में निगमन है।

इस प्रकार (१) प्रतिज्ञा (२) हेतु (३) उदाहरण (४) उपनय (५) निगमन इन पाँच वाक्यों द्वारा जो अनुमान कराया जाता है उसे पदार्थानुमान जानना चाहिये।

वात्स्यायन ने पदार्थानुमान के लिये पांच ही वाक्यों का प्रयोग किया है किन्तु उनके वाक्यों में भिन्नता है। जैसे--(१) जिज्ञासा (२) संशय (३) शक्यप्राप्ति (४) प्रयोजन (५) सशयव्युदास। भाष्यकर इनकी विशेष आवश्यकता नहीं समझते, क्योंकि पूर्वोक्त पञ्चावयवों से अनुमान पूर्ण रूप से समझा जा सकता है। तार्किकों के विचार में उपरोक्त पांच वाक्यों में भी कमी की जा सकती है, जैसे प्रतिज्ञा और निगमन प्राय: समान ही हैं। अत एक ही बात दुहराना ठीक नहीं है। इसी प्रकार उपनय और हेतु में भी कोई अन्तर नहीं है, तब केवल तीन अवयव शेष रहते है प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण।

वेदान्ती, मीमांसक, बौद्ध तथा जैन व्यवहार के लिये दो ही वाक्यों को प्रर्याप्त समझते हैं। जैसे प्रतिज्ञा और हेतु। इनके अनुसार अन्य तीनों हेतु में ही आ जाते हैं।

पाश्चात्य विचारक भी तीन वाक्यों के प्रयोग से परार्थानुमान सिद्ध करते हैं —(१) कन्क्लुजन (Conclusion) (२) माइनर प्रेमिस (Minor-Premise) (३) मेजर प्रेमिस (Major Premise) परन्तु भारतीय विचारक प्रथम प्रतिज्ञा, फिर हेतु और अन्त में उदाहरण का प्रयोग करते हैं और पाश्चात्य विचारक प्रथम मेजर प्रेमिस जो व्याप्ति के समान हैं। फिर माइनर प्रेमिस जो हेतु के समान और अन्त में कन्क्लुजन जो प्रतिज्ञा के समान है, प्रयोग करते है।

पाश्चात्य जगत् में न्याय का प्रचलन ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने किया था इसी आधार पर आज भी कुछ परिवर्तनों के साथ पश्चिमी तार्किक अनुसरण करता है। पश्चिमी न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक कभी पूर्ण व्यापी और कभी अंशव्यापी होकर विविध रुप धारण करता है। परन्तु भारतीय न्याय वाक्य पूर्णव्यापी भावात्मक ऐक ही प्रकार का होता है।

नव्य न्याय के अनुसार अनुमान के प्रभेद–

नव्यन्याय अनुमान तीन प्रकार का मानता है—(१) केवलन्वयी (२) केवलव्यतिरेकी (३) अन्वयव्यतिरेकी। इनको समझने के लिए प्रथम अन्वय और व्यतिरेक का अर्थ समझना आवश्यक है।

अन्वय—अन्वय का अर्थ साहचर्य है। अर्थात् एक साथी के रहने पर दूसरा भी उपस्थित रहे। 'तत्सत्वे तत्सत्वन्वयः'' जहाँ धुआँ है वहाँ आग है।

व्यतिरेक— यह अन्वय से विपरोत है। अर्थात् यह नहीं है तो वह भी नहीं है। जहां आग नहीं वहाँ धुआं भी नहीं है "तदभावेतदभावो व्यतिरेकः"

केवलान्वयीं –जिसमें केवल अन्वय का ही दृष्टान्त मिले, व्यातिरेक का नहीं वह केवलान्वयि कहलाता है। जैसे घट अभिधेय है, क्योंकि वह प्रमेय है। जैसे पट, जहाँ केवल अन्वय का दृष्टान्त है, क्योंकि जो भी अभिधेय है वह प्रमेय है और जो प्रमेय है वह अभिधेय है पुनः सभी अन्वय में ही आगये व्यतिरेक का दृष्टान्त कहाँ से देंगे, अर्थात् ऐसा कोई उदाहरण नहीं जो प्रमेय या अभिधेय न हो।

अन्वयमात्र व्याप्तिक केलान्वयी ॥ तर्कसंग्रह ॥

केवलव्यतिरेकी—जिसके साथ केवल व्यतिरेकी व्याप्ति हो (अन्वय व्याप्ति न हो) उसको केवलव्यतिरेकी कहते हैं। जैसे पृथ्वी अन्य तत्वों से भिन्न है क्योंकि उसका तत्व गुण गन्ध है। जो अन्यों में भिन्न नहीं वह गन्ध वाला भी नहीं होगा जसे जल, यह इस प्रकार का उदाहरण है कि जो गन्ध वाला है वह अन्य तत्वों से भिन्न है, नहीं मिल सकता है। क्योंकि गन्ध पृथ्वी के अतिरिक्त किसी में भी नहीं होता है।

व्यतिरेकमात्र व्याप्तिक केवलाव्यतिरेकी ॥ तर्कसंग्रह ॥

अन्वयव्यतिरेकी—वह है जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों के दृष्टान्त मिल सकें। जसे पर्वत पर आग है, क्योंकि वहां धुआँ है। जैसे रसोई घर, यह अन्यव का दृष्टान्त है तथा जहाँ आग नहीं वहाँ धुआँ भी नहीं। जसे तालाब यह व्यतिरेक का दृष्टान्त हुआ। इसी का अन्वयव्यतिरेकी कहते हैं। 'अन्वयेन व्यतिरेकेणच व्याप्ति मदन्वयव्यतिरेकी'' इन्हें लिङ्ग या लिङ्ग परामर्श के भेद भी कहते है।

चरकमतानुसार अनुमान के भेद—

युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क को अनुमान कहते हैं (चरक) विज्ञात अर्थ में कारण तथा उपपत्ति को देखकर अविज्ञात अर्थ में भी उसे जान लेना युक्ति कहलाता है। यह अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक तीन प्रकारका होता है— (१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतोदृष्ट। परन्तु इन तीनों का अर्थ क्या है, इस विषय में अधिकतया मतभेद है क्योंकि पूर्ववत् और शेषवत् शब्द दो प्रकार से निष्पक्ष होते हैं। एक वति प्रत्यय के द्वारा और दूसरा मतुप् प्रत्यय से। प्रथम के अनुसार अर्थ होता है पहले की तरह और दूसरे का अर्थ पूर्ववान्

र्थात पूर्व कारण वाला। इसी प्रकार सामान्यतोदृष्ट में भी है। यदि सामान्यत: दृष्ट माना जाये तो इसका अर्थ होगा कि जो साधारणतया देखा जाये। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार इसको सामान्यत: अदृष्ट माना गया है इस प्रकार इसका अर्थ होता है, जो साधारणतया नहीं देखा जाये। इसलिये वात्स्यायन ने इसके दोनों पक्षों को लेकर अलग २ उदाहरणों से प्रतिपादन किया है और महर्षि चरक के पूर्व पक्ष को लेकर ही इनका विवेचन किया है।

पूर्ववत्—जिसमें कारण से कार्य का अनुमान किया जाये वहाँ पूर्ववत् अनुमान है। जैसे—बीज को देखकर फल का अनुमान।

शेषवत्–जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाये वह शेषवत् अनुमान है। जैसे—गर्भ को देखकर मैथुन का अनुमान।

सामान्यतोदृष्ट–कार्य तथा कारण दोनों से भिन्न अनुमान को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं। जैसे—धूम से वह्नि का अनुमान और इसी प्रकार यह चरक मत से दोनों कालों का अनुमान भी है। अतीत, अनागत और वर्तमान जैसे—अदृश्य वर्तमान अग्नि का अनुमान धूम को देखकर करना और अतीत मैथुन का अनुमान गर्भ को देखकर करना। इसी प्रकार बीज के सदृश ही फल को देखकर बुद्धिमान लोग यह समझ लेते हैं कि कारण बीज के अनुसार ही कार्य फल होता है। इस कारण वाली व्याप्ति से "अनागत" का अनुमान करते है। यह वात्स्यायन मुनि का पूर्व अर्थात् साधारण पक्ष है।

विशिष्ट पक्ष—पूर्ववत् का अर्थ है पहले के समान। जैसे पहले का अनुभव बताता है कि धुयें के साथ सब जगह आग रहती है। इस लिये धूम को देखकर आग का अनुमान कर लेते हैं। इसी को पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। शेषवत् का अर्थ होता है कि शेष के समान अर्थात छाँटते २ जो अन्त में शेष रहे उसी को रख लेना। जैसे संशय हुआ कि शब्द क्या है। यहाँ कई विकल्प उत्पन्न हुये कि शब्द या तो द्रव्य है अथवा गुण है अथवा कर्म है। अब विचार करने पर विदित हुआ कि सभी पैदा होने वाले द्रव्य अनेकाश्रित होते हैं किन्तु शब्द का आधार केवल आकाश ही है, अत: वह द्रव्य नहीं हो सकता है। शब्द का कर्म होना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है। अब शेष रहा गुण इस लिये शेष को अर्थात् गुण को ही मान लेना चाहिए। अतः शब्द गुण है। यही शेषवत् अनुमान है।

सामान्यतोदृष्ट — कुछ पदार्थ ऐसे है जो कभी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, केवल कुछ लक्षणों के आधार पर हीं हम उनका अनुमान करते हैं। उसमें

लिङ्ग का लिङ्ग के साथ प्रत्यक्षीकरण तो नहीं होता है केवल सामान्य ज्ञान अर्थात् व्याप्ति के बल पर हम सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। जैसे आत्मा का अस्तित्व इच्छादि गुणों द्वारा है, क्योंकि द्रव्य में ही गुण रहता है। अतः इच्छा आदि गुणों का आधार कोई अवश्य होगा। इस आधार को हम आत्मा कहते हैं। इस प्रकार सामान्य ज्ञान के बल पर आत्मा का ज्ञान करते हैं, इसी को सामान्यतोदृष्ट कहते हैं।

अनुमान प्रकरण के पारिभाषिक शब्द––

(१) पक्ष (२) समक्ष (३) विपक्ष।

पक्ष—जहाँ पर साध्य होने का सन्देह हो उसे पक्ष कहते कहते हैं। यदि पहले ही साध्य का पूर्ण ज्ञान हो तो अनुमान की कोई आवश्यकता ही नहीं है। "सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः"।

सपक्ष—जहाँ पर साध्य का होना निश्चित रूप से ज्ञात हो उसे सपक्ष कहते हैं। 'निश्चित साध्यवान् सपक्षः'

विपक्ष - ऐसा स्थान जिसमें साध्य का न होना निश्चित हो। जैसे तालाब 'निश्चित् साध्याभाववान् विपक्षः'।

अनुमान के लिये पक्ष, साध्य तथा हेतु इन तीन वाक्यों की आवश्यकता होती है। पश्चिमी तार्किक इन तीन वाक्यों को इस रूप में मानते हैं —(१) साध्यवाक्य (Major premise) (२) पक्षवाक्य (Minor premise) (३) फलवाक्य (Conclusion)।

हेत्वाभास

हेतु से ही अनुमान किया जाता है, इस लिये हेतु निर्दोष होना चाहिये ऐसा नैयायिकों का आग्रह है। हेतु ने यह पाँच गुण हो तब सत्–हेतु कहा जाता है। जैसे—(१) हेतु का पक्ष में रहना (पक्षेसत्ता (२) समक्ष में भी हेतु ना विद्यमान रहना (सपक्षेसत्ता) (३) विपक्षाद् व्यावृत्ति अर्थात् पक्ष से विपरीत दृष्टान्तों में हेतु का अभाव (४) साध्य से विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिये अन्य हेतु का अभाव (असत्प्रतिक्षत्वम्)। (५) प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा वाधित न होना (अवाधितबिषयत्व)। अनुमान की सत्यता हेतु के इन्हीं गुणों पर अवलम्बित रहती है। यदि इन में कोई त्रुटि हो जाये तो सद्-हेतु न होकर हेतु का आभास मात्र रह जाता है। जो हेतु वास्तविक न हो कर हेतु के समान मात्र दिखाई देता है। उसे हेत्वाभास कहते हैं। यह हेत्वाभास

५ प्रकार के हैं। 'सव्यभिचार विरुद्ध सत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिता पंचहेत्वाभासा:' (१) सव्यभिचार (२) विरुद्ध (३) सत्प्रतिपक्ष (४) असिद्ध (५) बाधित।

(१) सव्यभिचार–

जो हेतु साध्य के साथ भी रहे और उससे अलग भी पाया जाये उसको सव्यभिचार हेत्वाभास कहते हैं यह तीन प्रकार का होता है — (१) साधारण (२) असाधारण (३) अनुसंहारी।

साधारण—जो हेतु साध्य के अभाव स्थान में भी उपस्थित रहे वह साधारण सव्यभिचार है। जैसे पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि पर्वत ज्ञान का विषय है। यहाँ पर हेतु (ज्ञान का विषय) है वह तो वहाँ भी रहता है जहाँ अग्नि नहीं रहती, जैसें जलाशय में।

असाधारण — जो हेतु सपक्ष या विपक्ष में न रहकर केवल पक्ष में ही रहता हो उसे असाधारण सव्यभिचार कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है। वास्तव में शब्दत्व केवल शब्द में ही रहता है किसी नित्य या अनित्य वस्तु में नही है।

अनुपसंहारी—जिस हेतु के साथ न अन्वय का दृष्टान्त हो और न व्यति-रेक का, उसे अनुपसंहारी सव्यभिचार कहते हैं। जैसे सब कुछ अनित्य है। प्रमेय होने से, यहाँ पर सब कुछ पक्ष में होने से सपक्ष और विपक्ष का दृष्टान्त नहीं मिल सकता है।

(२) विरुद्ध–

उस हेतु को कहते हैं जिसके साथ उसके साध्य का ही अभाव हो। जैसे शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। जो भी उत्पन्न होता है वह सब अनित्य है। फिर उत्पन्न होने वाला शब्द नित्य कैसे होगा।

(३) सत्प्रतिपक्ष–

जिस हेतु के मूकाबले में दूसरा ऐसा हेतु हो जो उसके साध्य के अभाव को सिद्ध करता हो उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे शब्द नित्य है, सुने जाने के कारण शब्द अनित्य है क्योंकि वह कार्य है, जैसे घट।

(४) असिद्ध –

यह तीन प्रकार का होता है — (१) आश्रयासिद्ध (२) स्वरूपासिद्ध (३) व्याप्यत्वासिद्ध।

(१) आश्रयासिद्ध — जैसे आकाश कमल सुगन्धित है, क्योंकि वह कमल हैं। जैसे तालाब का कमल, यहाँ आकाश कमल अनुमान का आश्रय है जो स्वयं उपस्थित नहीं है अर्थात् आकाश शून्य स्थान है वह किसी का

आश्रय हो नहीं सकता है अतः इसे आश्रयासिद्ध कहते हैं।

(२) स्वरूपासिद्ध — जैसे शब्द गुण है, क्योंकि वह आँखों से दिखाई देता है। यहाँ पर शब्द में आँखों द्वारा दिखाई देने का गुण ही नहीं है। शब्द तो कान से सुनाई देता है अतः इसे स्वरूपासिद्ध कहते हैं।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध — उपाधियुक्त हेतु का नाम व्याप्यत्वासिद्ध है। जो साध्य का व्यापक हो, परन्त साधन का व्यापक न हो उसे उपाधि कहते हैं। साध्य के अभाव के स्थान में उपाधि रूप प्रतियोगी का होना ही साध्य का व्यापक होना है और साधन के साथ उपाधि के अभाव का रहना साधन का अव्यापक होना कहलाता है। उदाहरण के लिये जैसे पर्वत पर धूम है, क्योंकि वहाँ आग है। यहाँ गीले इन्धन का संयोग उपाधि है। जहाँ धुआँ है वहाँ गीले इन्धन का सयोग है, यह साध्य व्यापकता है जहां अग्नि है वहाँ गीले इन्धन का संयोग नहीं है, यह साधन की अव्यापकता है। जैसे तप्त लोहे के गोले में। इस लिये साध्य के साथ व्यापक होने पर तथा साधन के साथ व्यापक न होने से गीले इन्धन का संयोग उपाधि कहलाता है। उपाधियुक्त होने पर भी अग्नि का होना सिद्ध करने वाला हेतु सोपाधिक हैं। "साध्यव्यापकत्वे सतिसाधनाव्यापकस्वमुपाधि:" "सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्ध:"।

(५) वाधित--

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाण द्वारा निश्चित रूप से सिद्ध है। वह बाधित हेतु कहलाता है। जैसे आग गरम नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है। यहाँ गरम न होना साध्य है। उसका अभाव (गरम होना) स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध है। इस लिये इस साध्य को सिद्ध करने के लिये दिया गया हेतु बाधित है।

उपमान प्रमाण

उपमान और उपमिति–

उपमीयते अनेन इस विग्रह में उपमान शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है, उपमा या सादृश्य के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे उपमिति कहते हैं अथवा 'संज्ञासंज्ञि सम्बन्ध ज्ञानमुपमिति" गवय वाचक (संज्ञा) उसका वाच्य (संज्ञी) है।

यथा—किसी व्यक्ति को गवय का ज्ञान नहीं था। किसी वन निवासी व्यक्ति से उसने सुना कि गाय के सदृश गवय होता है। जब वह किसी दिन जंगल में गया तो वहाँ उसे एक गाय के सदृश प्राणि दिखाई दिया तो उसे स्मरण हुआ कि गाय क समान ही गवय होता है। अतः उसे यह ज्ञान हो

गया कि यही 'गवय' है सादृश्य ज्ञान पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर होता है। यही सादृश्य ज्ञान उपमिति का कारण या उपमान कहलाता है। यह नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। अथवा प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमिति कहलाता है।

प्रसिद्ध वस्तु साधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम् ।
उपमानं समाख्यात यथागोर्गवयस्तथा ।। षड्दर्शनस० ।।

महर्षि चरक के अनुसार भी उपमान का लक्षय यही है कि किसी प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना, जसे—दण्ड को देख कर दण्डक रोग का, धनुष को देखकर धनुस्तम्भ रोग का ज्ञान करना आदि। "अथौपम्यन्। औपम्य नाम तद्यदन्येनान्यस्य सादृश्य मधिकृत्य प्रकाशनम्। यथा दण्डेन दण्डकस्य धुनुषा धनुस्तम्भस्य" (चरक वि०)।

उपमान के सम्बन्ध में विविध विचार--

दिङ्नागाचार्य उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते हैं। वैशेषिक उपमान को अनुमान के अन्तगत स्वीकार करते है। भासर्वज्ञ शब्द प्रमाण में ही उपमान को समाविष्ट करते हैं। साँख्य के मत में उपमान शब्द पूर्वक प्रत्यक्ष है। सिद्धान्त मुक्तावली में उपर्युक्त मतों का खण्डन किया गया है। नैयायिकों का कथन है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द में नहीं हो सकता है। वस्तुत: उपमान में इन तीनों का अंश रहता है। उपमान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा केवल गो सदृश पिण्ड की प्रतीति होती है गवय की नहीं। अनुमान भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्ष मूलक होता है और गवय का पहले प्रत्यक्ष हुआ ही नहीं। इसी प्रकार शब्द भी उपमिति का कारण नहीं है, शब्द से गो गवय सादृश्य का ज्ञान तो होता है किन्तु पिण्ड विशेष में गवय पदवाच्यत्व का नहीं इस लिये उपमान उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से भिन्न स्वतन्त्र प्रमाण है।

आप्तोपदेश अथवा शब्द प्रमाण

चरक संहिता में आप्त का लक्षण इस प्रकार किया है कि जो पुरुष रजोगुण और तमोगुण से निर्मुक्त हैं। अर्थात विशिष्ट तपस्या और ज्ञान के बल से राग द्वेष से शून्य आवृतर्क ज्ञान वाले, जिनका ज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में अव्याहृत है तथा उस ज्ञान का उपदेश प्राणिमात्र के कल्याणार्थ ज्यों का त्यों करते हैं। ऐसे दोष रहित, बाधा रहित ज्ञानी आप्त

कहलाते हैं। इन्हें शिष्ट तथा विवृद्ध भी कहते हैं। कार्याकार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के उपदेश से शासन करने के कारण शिष्ट और बुद्धिगम्य विषयों के विशिष्ट ज्ञान से विवुद्ध कहलाते हैं। ऐसे आप्त पुरुषों के वचन संशय रहित और सत्य होते हैं। इनके वचन असत्य नहीं हो सकते हैं, क्योंकि असत्य के कारण रजोगुण तथा तमोगुण हैं, जो इन्होंने त्याग दिये हैं, ऐसे ही पुरुषों के वाक्य आप्तोपदेश कहलाते है।

रजस्तमोभ्याँ निर्मुक्तास्तपोज्ञान वलेन ये।
येषांत्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा॥
आप्ताः शिष्ठा विवुद्धास्ते तेषाँवाक्यमसशयम्।
सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्य नीरजस्तमाः॥ चरक सू० ११॥

आचार्य ने इसी को ऐतिह्य भी कहा है। "ऐतिह्य नामाप्तोपदेशोवेदादिः' (चरक वि०) सुश्रुतोक्त आगम प्रमाण भी यही है। आगम शास्त्रों को कहते हैं। शास्त्रों का उपदेश ही आगम प्रमाण कहलाता है।

शब्द–

शब्द आकाश का गुण है, कर्णेन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है उसे शब्द कहते हैं। शब्द दो प्रकार के होते हैं— (१) ध्वन्यात्मक (२) वर्णात्मक। जिसमें केवल ध्वनि का ज्ञान होता है, उसे ध्वन्यात्मक कहते हैं। जैसे—ढोल तथा अन्य वाद्य यन्त्रों की आवाज और जिसमें कण्ठ तालु आदि के संयोग से स्वर व्यञ्जनों का स्पष्ट उच्चारण होता है, उसे वर्णात्मक शब्द कहते हैं, जैसे—मनुष्य की आवाज।

वर्णात्मक शब्द भी दो प्रकार के होते हैं–– (१) सार्थक और (२) निरर्थक। जिनसे किसी अर्थ का ज्ञान होता है, वेसार्थक होते हैं। जसे–कमल वस्त्र, घट आदि। और निरर्थक शब्द वे हैं, जिनका कोई अर्थ न निकलता है जैसे–शिशु का शब्द, उन् वम् आदि। सार्थक शब्द संज्ञा, क्रिया आदि भेद से कई प्रकार के होते हैं। इन शब्दों में विशेष प्रकार का अर्थ प्रकट करने की शक्ति होती है। जैसे अश्व कहने से एक जन्तु विशेष का ज्ञान होता है। गमन कहने से क्रियाविशेष का बोध होता है। इस अर्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति को संकेत कहते हैं। शब्द में यह शक्ति कहाँ से आयी? इस प्रश्न पर न्याय और मीमांसा के भिन्न दृष्टिकोण है। मीमांसाको का कथन है कि शब्द में शक्ति नैसर्गिक और नित्य रूप से रहती है। नैयायिक ऐसा नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध कृत्रिम है अर्थात् शब्द इच्छा-निर्मित संकेत मात्र है। चाहे वह संकेत ईश्वरकृत हो या मनुष्यकृत। शब्द के

द्वारा जो पदार्थ सूचित होता है, वह वाक्य कहलाता है।। शब्द उस वस्तु का सूचक चिह्न या संकेत है। यह संकेत भी दो प्रकार का होता है।

(१) जो संकेत अज्ञात काल से चला जा रहा है उसे आजानिक संकेत कहते हैं। जैसे घट शब्द से जो पात्र विशेष का बोध होता है, वह हमारा आपका दिया हुआ नहीं है। किसने दिया यह, यह भी पता नहीं ? हम यही जानते हैं कि घट शब्द में पात्र विशेष का बोध कराने की सामर्थ्य है।

(२) जो संकेत किसी की इच्छा से दिया गया हो। जैसे— 'रामलाल' से हम एक व्यक्ति विशेष ज्ञान कहते हैं। यह नाम उसके माता पिता के इच्छानुसार दिया गया है। यह नाम सामयिक है। इसी को आधुनिक संकेत कहते हैं।

पद—

शक्तिमान् शब्द को पद कहते हैं। जिसमें अर्थ विशेष को द्योतित करने की शक्ति होती है। पद में व्यक्ति, जाति और आकृति का बोध कराने की शक्ति होती है। जैसे—गो शब्द से आकृति जाति विशिष्ठ व्यक्ति का बोध होता है, यह नैयायिकों का मत है।

पद भी तीन प्रकार के होते हैं—(१) रूढ (२) योगिक (३) योग रूढ। पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य से जो अर्थ निकलता है उसे शब्द बोध कहते हैं। वाक्यार्थ ज्ञान के लिये तीन बातों की अपेक्षा होती है। (१) आकांक्षा (२) योग्यता (३) सन्निधि।

आकाँक्षा—वाक्य में एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा रहती है। जैसे देवदत्त खेलता है। यहाँ देवदत्त उद्देश्य (Subject) है और खेलता है विधेय (Predicate) है। केवल देवदत्त कहने से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता है इसी प्रकार केवल खेलता है, कहने से भी शब्द बोध नहीं होगा जब दोनों का परस्पर अन्वय होता है, तब अर्थ प्राप्त होता है।

योग्यता—आकांक्षा रहते हुये भी यदि पदों में सामञ्जस्य न हो तो भी शब्द बोध नहीं होगा। जैसे—"अग्नि से सींचो" यहाँ करण और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं है। सींचने का अर्थ जल कणों से अभिषिक्त करना है। इस लिये अग्नि से सींचना असम्भव है।

सन्निधि— पदों में समीरता होनी भी आवश्यक है। यदि 'देवदत्त' 'खीर' खाता है' इन पदों के उच्चारण में एक २ घन्टे की देर हो तो शब्द बोध नहीं होगा।

"पदस्य पदान्तर व्यक्तिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाँक्षा"। "अर्था बाधो योग्यता,,। "पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधि,, ।। तर्क संग्रह ।।

न्यायाचार्यो ने शब्द की दो वत्तियाँ मानी है— (१) अभिधा (२) लक्षणा।

शब्द प्रमाण—

न्याय शास्त्र में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। शास्त्र पुराणादि के यथार्थ वचन न प्रत्यक्ष में आते है और न अनुमान के अन्तर्गत। अतः शब्द पृथक प्रमाण है, किन्तु सभी प्रकार के शब्द प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं "आप्तोपदेशः शब्दः,, (न्या० सू०) आप्त पुरुषों के वाक्य ही शब्द प्रमाण माने जाते हैं। अर्थात् जिन्होंने अपने प्रत्यक्ष के आधार पर जो भी जानकारी प्राप्त की उसे दूसरों के उपकारार्थ उपदेश किया, उन्हीं के शब्द प्रमाण कोटि में आ सकते हैं। "आप्तस्तु खलु यथार्थवक्ता,, अर्थात् यथार्थ बोलने वाला हो आप्त है। उसी का वचन प्रामाणिक होता है।

शब्द प्रमाण दो प्रकार का माना गया है— (१) लौकिक (२) वैदिक लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्य और वैदिक शब्द श्रुति के वाक्य हैं।

वेद की प्रमाणिकता—

न्याय वैशेषिक सभी का यही मत है कि वेद आप्त वाक्य हैं। अतः प्रामाणिक उदयनाचार्य और अन्नम् भट्ट प्रभृति वेद को ईश्वर कृत मानते हैं। मीमाँसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कथन है कि वेद नित्य है उनका कर्ता कोई नहीं है। ऋषिमुनि मन्त्र द्रष्टा थे, रचयिता नहीं। किन्तु उदयनाचार्य ने "तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे,, आदि वेद मन्त्रों का उदाहरण देकर बताया कि ये निर्मित है। अनादि नहीं। वेद ईश्वर ने बनाये हैं, अतः वे अकर्तृक नहीं हैं।

बौद्ध तथा जैन ग्रन्थकारों ने वेद में अनेक दोषों का वर्णन किया है परन्तु न्याय और मीमांसा ने अपने तर्कों द्वारा उनका खण्डन कुशलता से किया है। वेद को प्रमाण न मानते हुये भी जैन तथा बौद्ध शब्द प्रमाण को मानते हैं। क्योंकि जिस प्रकार ब्राह्मण दार्शनिक वेद के वचनों को प्रमाण भूत मानते हैं उसी प्रकार बौद्ध बुद्ध वचन (पालीत्रिपिटक) और जैन जैनागम को मान्य समझते हैं। अतः शब्द प्रमाण इनके लिये भी ज्ञान का साधन है।

युक्ति प्रमाण

(२) युक्ति—

अनुकूल पर्याप्त जल, उचित प्रकार से जोती हुई भूमि, स्वगुण सम्पन्न बीज और अनुकूल ऋतु तथा काल इनके संयोग से जिस प्रकार अन्नादि की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पाँच महाभूत और छटी आत्मा के संयोग से गर्भ की उत्पत्ति होती है, यही युक्ति है।

मथ्य (काष्ठ, तृण कपासादि), मन्थक अर्थात् मथने वाला व्यक्ति, मन्थान अर्थात् जिसके सहयोग से मथा जाये वह काष्ठ इनके सहयोग से जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार स्वगुण सम्पन्न चतुष्पाद अर्थात् गुणवान् भिषक् औषध, रोगी और उपचारक के संयोग से रोग शान्ति होती है।

अतः युक्ति का लक्षण है कि अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न हुये भावों को जो बुद्धि देखती, उसे युक्ति कहते हैं। इसी युक्ति द्वारा तीनों कालों का ज्ञान होता है और इससे त्रिवर्ग की सिद्धि होती है।

जलकर्षण बीजर्तु संयोगात् शस्यसम्भवः।
युक्तिः षड्धातुसंयोगात् गर्भाणाँ सम्भवस्तथा॥
मथ्य मन्थक मन्थानः संयोगादग्नि सम्भवः।
युक्तियुक्ताचतुष्पाद संपद व्याधि निवर्हणी॥
बुद्धि पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान्।
युक्तिस्त्रिकाला साज्ञेया त्रिवर्गः साध्यतेयया॥ चरक सू० ११॥

वैशेषिक, बौद्ध आदि युक्ति का स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं, महर्षि चरक ने स्वयं युक्ति को अनुमान की अनुग्रहिका मात्र बतलाया है। उपरोक्त उद्धरणों से भी स्पष्ट हो जाता है कि अनेक कारणों के संयोग से उत्पन्न होते हैं, अतः यह एक प्रकार का अनुमान ही है। अतः युक्ति का अनुमान में हो अन्तर्भाव हो जाता है।

अर्थापत्ति या अर्थप्राप्ति

वेदान्ती और मीमाँसकों ने अर्थापत्ति को पाँचवा प्रमाण माना है। देखे या सुने हुये अर्थ की उत्पत्ति जिस अर्थ के अभाव में न होती हो तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थात् एक अर्थ के कहने से दूसरे न कहे अर्थ का ज्ञान

स्वयं हो जाता हो वह अर्थापत्ति प्रमाण है। जैसे देवदत्त मोटा है, दिन में नहीं खाता है, यह वाक्य कहने पर निश्चित है कि विना खाये मोटा होना असम्भव है, अतः रात को खाता होगा, यह अर्थ लग जाता है। बिना रात्रि भोजनाक्षेप के पूर्वोक्त वाक्य सिद्ध नहीं होता है।

चरक विमान स्थान आठवें अध्याय में अर्थापत्ति का लक्षण दिया गया है। "अर्थप्राप्तिर्नाम—यत्रैकेनार्थेनोक्तेनापरस्यानुक्तस्यार्थसिद्धिः। यथाः— नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पण साध्योऽयमिति। नानेन दिवाभोक्तव्यमित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्ति र्निशिभोक्तव्यम्। (चरक वि०)

अर्थात् जहाँ एक अर्थ के कहने से दूसरे न कहे गये अर्थ की सिद्धि हो उसे अर्थापत्ति या अर्थप्राप्ति करते हैं। जैसे—यह व्याधि सन्तर्पण साध्य नहीं है। यह कहने से अपतर्पण साध्य है, यह अर्थ प्राप्त होता है तथा इस रोगी को दिन में नहीं खाना चाहिये, ऐसा कहने से रात्रि में खाना चाहिये, इस अर्थ की सिद्धि होती है।

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं। — (१) दृष्टार्थापत्ति अर्थात् देखी गई किसी वस्तु की उपपत्ति के लिये अर्थान्तर की कल्पना को जाती है। (२) श्रुतार्थापत्ति — अर्थात् जहाँ किसी वस्तु को उपपत्ति के लिये अन्य शब्द की कल्पना होती है। जैसे — 'पिधेहि' (बन्द करो) पद को सुनते ही "द्वार" अर्थात् द्वार को इस पद की कल्पना की जाती है। (मा०मे०पृ० १२९-३०) नैयायिक अर्थापत्ति को एक प्रकार का अनुमान ही मानते हैं। यह पाँच प्रमाण भाव पदार्थो की उपलब्धि के साधक हैं, अब अभाव पदार्थ के ज्ञान के लिये भी प्रमाण की आवश्यकता है।

अनुपलब्धि या अभाव–

भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैत वेदान्ती अनुपलब्धि को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। यदि लेखनी होती तो अवश्य उपलब्ध होती, किन्तु इस समय वह उपलब्ध नहीं हैं, अथवा टेबल पर दवात नहीं हैं। अतः यह अप्राप्ति वस्तु के अभाव को सूचित करती है। रामायण में उपरोक्त ६ प्रमाणों द्वारा लोक व्यवहार की साधना स्वीकृत की गई है।

राम ? षड्युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते।

ऐतिह्य प्रमाण–

ऐतिह्य का अर्थ है — (इति)=ऐसा (हा) निश्चय पूर्वक (ऊचुः) कहा है। (वृद्धाः) बड़ों ने, इसलिये ऐतिह्य वंश परम्परा को कहते हैं। जो वशानुवंश क्रम से चला आ रहा है। कैसे चला आ रहा है, इसका उत्तर देना कठिन है, क्योंकि इसके कारण का कोई पता नहीं है। बहुत सी धारणायें परम्परा पर ही अवलम्बित हैं। पौराणिक लोग ऐतिह्य को भी ज्ञान का साधन मानते हैं। नैयायिक इसे शब्द ही मानते हैं, परन्तु शब्द प्रमाण नहीं, यह परम्परागत उपदेश आप्तोपदेश है।

चेष्टा–

चेष्टा द्वारा भी ज्ञान की उपलब्धि होती है, जैसे — गूंगे की चेष्टा (आकृति) को देखकर यह ज्ञान होना कि यह भूखा है। कई बार मनुष्य के आकार प्रकार को देखकर उसके विचारों का ज्ञान हो जाता है। नैयायिक इसे भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं। यह एक प्रकार का अनुमान ही है। ऐसा कहते हैं।

परिशेष–

किसी समुदाय से अनिच्छित अर्थों को हटाकर इच्छित अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना परिशेष प्रमाण है। जैसे—किसी व्यक्ति को जन समुदाय से ढूंढ निकालना है। यह मालूम ही कि यह व्यक्ति उस समुदाय में है, फिर उस सभुदाय के सभी अपरिचित व्यक्तियों को हटाकर एक अपना परिचित व्यक्ति शेष रहा, उसे पा लेना। इसे भी नैयायिक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं।

सम्भव--

चाकू के ज्ञान से चाकू में लगे बेट का ज्ञान भी हो जाता है इस प्रकार उस वस्तु का ज्ञान सम्भव प्रमाण द्वारा होता है। जैसे – फुट के ज्ञान से इन्च का ज्ञान सम्भव है। नैयालिक इसे भी स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं।

सचेतन और अचेतन द्रव्य के दो भेद--

विश्व की सम्पूर्ण सृष्टि चेतन तथा अचेतन भेद से दो प्रकार की हैं। सभी कार्य द्रव्य दो भागों में विभक्त होते हैं — (१) चेतन और (२) अचेतन इन्द्रिय विशिष्ट द्रव्य चेतन तथा इन्द्रिय रहित अचेतन कहलाते हैं। इन्द्रिय विशिष्ट भी दो प्रकार के होते हैं – (१) वहिरन्तश्चेतन (२) अन्तश्चेतन। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि में वाह्य एवं अन्तश्चेतना होती है, किन्तु वनस्पतियाँ

केवल अन्तश्चेतन हैं।

बहिरन्तश्चेतन सृष्टि चार प्रकार की है — (१) जरायुज (२) अण्डज (३) स्वेदज (४) उद्भिज, और अन्तश्चेतन भी (१) वानस्पत्य (२) वनस्पति (३) वीरुध और (४) औषधी भेद से चार प्रकार के हैं।

अचेतन द्रव्य--

जिनमें इन्द्रियाँ नहीं होती वे अचेतन हैं। जैसे – सब प्रकार के खनिज स्वर्ण, रजतादि पदार्थ एवं कृत्रिम । सेन्द्रिय का तात्पर्य आत्मा विशिष्ट द्रव्य से है। क्योंकि आत्मा का प्रकाश इन्द्रियों से ही होता है। "आत्मज्ञः करणैर्योगात्" अतः इन्द्रिय से आत्मा का ग्रहण हो जाता है ।

वनस्पति वर्ग में भी चेतना होती है, क्योंकि चेतन्य के जो लक्षण— श्वासोच्छ्वास, शरीर वृद्धि, भोजन ग्रहण, मलादि त्याग, वंश वृद्धि आदि है वनस्पतियों में भी पाये जाते हैं किन्तु उस चैतन्य को प्रकट करने के लिये वनस्पतियों में स्पर्श के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां नहीं होती हैं।

"सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्" (चरक सू० १)
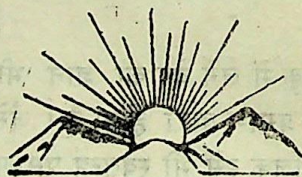
गुण निरूपण

विश्व में किसी पदार्थ का वर्णन उसके गुण दोष के आधार पर ही किया जाता है। वैज्ञानिक इसी आधार पर पदार्थ का अन्वेषण करते हैं। यदि द्रव्य में गुण न हो तो द्रव्य नाम की वस्तु ही नहीं हो सकती है। आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र है, चिकित्सा विकार अर्थात् रोग की ही की जाती है रोग धातुओं की विषमता के कारण होते हैं, धातुओं की विषमता असात्मेन्द्रियार्थ संयोग से मिथ्या आहार विहार द्वारा होती है। विविध प्रकार का आहार अपने गुणों के आधार पर शरीर स्थित दोष तथा धातुओं की उत्पत्ति क्षतिपूर्ति आदि का कारण है। इसी प्रकार विषमता में भी कारण होता है। यह सभी कार्य आहारगत द्रव्य के गुणों के आधार पर ही होते हैं। शरीर स्थित विषमता को दूर करने के लिये उनके विरुद्ध गुणों वाले द्रव्य का प्रयोग होता है। अतः चिकित्सा द्रव्य के गुणों के आधार पर ही कर सकते हैं।

गुण का लक्षण--

(१) चरक सहिता में गुण का लक्षण इस प्रकार किया गया है — "समवायी तु निश्चेष्टः कारणं गुणः" (चरक सू०) अर्थात् जो द्रव्य में आश्रित रूप में रहता हो, चेष्टा रहित हो, अर्थात् क्रम से रहित हो और गुण रहित हो किन्तु अपने समान गुण की उत्पत्ति में कारण हो अर्थात् समवायी कारण हो उसे गुण कहते हैं।

(२) महर्षि कणाद् ने गुण की परिभाषा अधोलिखित प्रकार से की है— "द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनतेक्ष इति गुणलक्षणम्" इस परिभाषा में तीन वाक्य हैं – (१) द्रव्याश्रयी (२) अगुणवान् (३) संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्षः।

(१) गुण बिना आधार के नहीं रहता है, वह किसी न किसी द्रव्य के अन्दर ही रहेगा, अतः गुण को द्रव्याश्रयी कहा गया है।

(२) किन्तु कई द्रव्य भी दूसरे द्रव्य के आश्रित रहते हैं, जैसे—अग्नि इन्धन के आश्रित होता है, परन्तु द्रव्य किसी के आश्रित भी हो तो भी उसके गुण वहाँ भी उसी में उपस्थित रहेंगे। परन्तु गुण में गुण नहीं रह सकता है, अर्थात् गुण का गुण नहीं होता है। इस लिये गुण का दूसरा लक्षण 'अगुणवान् है।

(३) परन्तु कर्म का भी तो कोई गुण नहीं है और वह भी द्रव्य में, ही आश्रित रहता है। इसलिये द्रव्याश्रय्य गुणवान् इतना ही लक्षण करने से

कर्म में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इस दोष के परिहार के लिये तीसरा विशेषण जोड़ना आवश्यक हुआ कि कर्म संयोग विभाग का कारण होता है, किन्तु गुण संयोग विभाग की अपेक्षा नहीं रखता है, इस लिये कर्म से गुण का भेद करने के लिये संयोग विभागेष्वकारणमनपेक्षः कहा गया है।

भगन्तनागार्जुन अपने रस वैशेषिक में गुण का लक्षण करते है कि — "विश्व लक्षणाः गुणाः" अर्थात् जिसका लक्षण विकीर्ण भिन्न २ हो वही गुण है। यह लक्षण कार्य द्रव्य का प्रतीत होता है और आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त है। क्योंकि गुण को छोड़ कर अन्य पदार्थ द्रव्य, रस, विपाक. वीर्य और कर्म इनमें से प्रत्येक का एक-एक लक्षण में अवरोध होता है। जैसे – शब्दादि का आश्रय द्रव्य, रसनेन्द्रिय से जिसका ग्रहण हो वह रस, कर्म लक्षण वीर्य, परिणाम—लक्षण विपाक इन बक्षणों में समस्त द्रव्य भेद रस भेद, वीर्य भेद और विपाक भेद का अवरोध होता है। गुण का ऐसा लक्षण कोई नहीं हो सकता है, जिसमें समस्त गुण आ जायें। इस लिये वे भिन्न-भिन्न लक्षण वाले हैं।

गुण का निर्दुष्ट लक्षण—

"द्रव्यकर्म भिन्नत्वेपति सामान्यवान् गुणयः" अर्थात द्रव्य तथा कर्म से भिन्न जाति वाले पदार्थ को गुण कहते हैं।

गुण के सम्बन्ध में पाश्चात्य दार्शनिकों के विचार—

वर्कले महोदय के अनुसार द्रव्य गुणों का समूह मात्र है, यदि हम किसी पदार्थ के सम्पूर्ण गुणों को किसी प्रकार पृथक् करदें तो शेष कुछ नहीं बचेगा, इस लिये द्रव की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अपितु गुणों के समुदाय को ही द्रव्य समझना चाहिये। यही विचार भगन्तनागार्जुन ने भी प्रकट किये हैं।

गति, आकार, विस्तार आदि द्रव्यों के मुख्य गुण हैं तथा वर्ण रस आदि इन्द्रिय ग्राह्य होने से गौण (Secondary quality) कहलाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक का कथन है कि वस्तु में रूप, रस, आकार, प्रकारादि प्रत्यय प्रयोजक जो धर्म है वही गुण है। संख्या, परिमाण आदि गुण मुख्य रूप से द्रव्य में रहते हैं। यह जैसे वस्तु में रहते हैं उसी प्रकार के दिखाई देते हैं। किन्तु रूप रसादि गुण बदलते रहते हैं। नैयायिक भी मानते हैं कि कुछ गुण इन्द्रियों के अधीन होते हैं और कुछ द्रव्य के अधीन।

इनमें वर्कले के विचार आयुर्वेद सिद्धान्त से मेल नहीं खाते हैं, क्योंकि

द्रव्य तथा गुण एक ही पदार्थ नहीं हैं। द्रव्य आधार और गुण आधेय है। द्रव्य नियत है, गुण नियत नहीं होते क्योंकि कच्चे फल का रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाक हो जाने के पश्चात् बदल जाता है। संस्कार द्वारा गुण तो बदल जाते हैं किन्तु द्रव्य नहीं बदलता है।

गुणों की संख्या—

यद्यपि गुण असंख्य है फिर भी अध्ययन की दृष्टि से उनका वर्गीकरण करना आवश्यक देखकर महर्षि चरक ने ४१ गुणों का उल्लेख किया है। यथा "सार्थागुर्वादियो बुद्धिः प्रयत्नान्ताः परादयः गुणाः प्रोक्ता" (चरक सू०) अर्थात् पांच ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। गुरु, लघु, शीत उष्ण, स्निगध, रूक्ष, मन्द, तीक्षण, स्थिर, सर, मृदु, कठिन, विशद, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, स्थूल, सूक्ष्म, सान्द्र, द्रव यह गुर्वादि २० गुण तथा बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, परत्व, अपरत्व, युक्ति, संख्या, सयोंग, विभाग, पृथक्त्व परिणाम, संस्कार और अभ्यास यह सब मिलकर ४१ गुण हैं।

अष्टाङ्ग हृदय में २० गुणों का वर्णन मिलता है जैसे—

गुरू-मन्द-हिम-स्निग्ध-श्लक्ष्ण-सान्द्र-मृदु-स्थिराः।
गुणा ससूक्ष्म विशदा विशति सविपर्ययाः (अ० हृ० सू०)॥

नैयायिकों ने २४ गुण माने हैं। जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द, संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, सयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार।

उपरोक्त सभी गुणों में शब्दादि पाँच वैशेषिक गुण हैं। गुर्वादि द्रवान्त २० गुण सामान्य गुण कहलाते हैं। कविराज गंगाधर ने इनको शारीरिक गुण भी कहा है। बुद्धि, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न यह ६ आत्म गुण है। वैशेषिक सूत्र (१/१/६) में केवल सत्रह गुणों का उल्लेख है।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या परिणाम, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व. अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न। परन्तु भाष्यकर प्रशस्त पदाचार्य च शब्द से निम्नलिखित सात गुणों का अध्याहार करते हैं जैसे— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार इस प्रकार चौबीस गुण हो जाते हैं।

गुणों के सम्बन्ध में नैयायिक तथा वैशेषिकों में सिद्धान्तगत भेद—

(१) पाकजोत्पत्ति—नैयायिकों का कथन है कि घड़े को आग में

पकाया जाये तो घड़ा नष्ट नहीं होगा केवल उसके सूक्षम छिद्रों में अग्नि प्रवेश कर उसके परमाणुओं का रंग बदल जायेगा। इनके मत में घड़े का पाक होता है, परमाणुओं का नहीं। इनको 'पिठर पाक' मत कहते हैं। परन्तु वैशेषिकों का कथन है कि अग्नि के द्वारा घड़े के परमाणु पृथक २ हो जाते हैं और पक्कर वे लाल हो जाते हैं। ये ही परमाणु पकने के पश्चात् द्वणकादि क्रम से फिर घड़े की उत्पत्ति करते हैं इसको 'पीलु (अणु) पाक' कहते हैं।

(२) द्वित्व संख्या—वैशेषिक मतानुसार द्वित्व संख्या अपेक्षाबुद्धि जन्य है। अनेक एकत्व की बुद्धि को 'अपेक्षा बुद्धि' कहते हैं। परन्तु नैयायिक द्वित्व संख्या को अपेक्षा बुद्धि ज्ञाप्य मानते हैं अर्थात् एकत्व की कल्पना के अन्दर हो द्विव्य की कल्पना भी अन्तर्निविष्ट होती है।

(३) विभागज विभाग—वैशेषिक विभाग जन्य विभाग मानते हैं। जैसे—हस्त-वृक्ष विभाग से शरीर-वृक्ष का विभाग, परन्तु नैयायिकों को यह मान्य नहीं हैं। इन मत-भेदों को श्लोक वद्ध किया गया है।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्ती विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिताबुद्धिस्तं वै वैशेषिक विदुः॥

शब्दादि गुण का साधर्म्य

(१) सभी गुणों में गुण जाति का सम्बन्ध है।
(२) सभी गुण अश्रित धर्म वाले हैं, अर्थात् दूसरों के आश्रय में रहते हैं।
(३) सभी गुण गौण होने से गुण कहलाते हैं।
(४) सभी द्रव्य में ही आश्रित रहते हैं।
(५) सब में निगुर्णत्व है अर्थात् गुण से रहित है।
(६) सब निष्क्रिय है अर्थात क्रिया रहित है।
उपरोक्त लक्षण सबमें समान हैं अतः यह उनके साधर्म्य हैं।

शब्दादि गुणों का वैधर्म्य

(१) रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग यह दश मूर्तगुण हैं।
(२) बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द यह दश अमूर्त गुण हैं।
(३) संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग यह पाँच मूर्तामूर्त गुण हैं।
(४) इनमें भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह वाह्य गुण कहें जाते है।

(५) बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न यह अन्त रेन्द्रिय (मन) ग्राह्य हैं।
(६) धर्म, अधर्म और भावना यह अतीन्द्रिय हैं।
(१) चोबीस गुणों में से स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परित्व, अपरत्व तथा **विभाग्य** संस्कार यह नौ गुण वायु में रहते हैं।
(२) उपरोक्त नो गुणों के साथ रूप ओर द्रवत्व यह ग्यारह गुण तेज में रहते हैं।
(३) उपरोक्त नो तथा द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस, एवं स्नेह यह चोदह गुण जल में होते हैं।
(४) उक्त चोदह गुणों में स्नेह के स्थान पर गन्ध लेलें तो चौदह गुण पृथ्वी के हैं।
(५) बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, भावना, धर्म ओर अधर्म यह चौदह जीवात्मा में पाये जाते हैं।
(६) संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग यह काल तथा दिशा में भीं रहते हैं।
(७) संख्या आदि पाँच ओर शब्द यह आकाश में रहते हैं।
(८) संख्या आदि पाँच, बुद्धि, इच्छा, और प्रयत्न यह आठ परमात्मा में।
(९) संख्या आदि पांच परत्व अपरत्व ओर वेग यह आठ मन में होते हैं।

वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा: जलक्षितिप्राणभृता चतुर्दशम्।
दिक्कालयौ: पच षडेवाम्बरे महेश्वरेऽष्टी मनसस्तथैवच॥

रूप का लक्षण

केवल नेत्रों से जिस गुण का ग्रहण प्राप्त होता है, वह रूप है। "चक्षुमत्रि-ग्राह्यो गुणों रूपम्" मात्र शब्द का तात्पर्य यह है कि संख्या परिमाणादि गुण भी चक्षुग्राह्य हैं, किन्तु वे चक्षु के अतिरिक्त त्वचा से स्पर्श द्वारा भी जाने जाते हैं परन्त रूप केवल चक्षुग्राह्य ही है। अन्य इन्द्रिय से इसका ज्ञान नहीं होता है, जिस इन्द्रिय से जो पदार्थ ग्रहण होता है, उसकी जाति और अभाव का ज्ञान भी उसी इन्द्रिय से हो जाता। इस नियम के अनुसार रूपत्व जाति और रूप का अभाव भी नेत्रों से ही ज्ञात हो जाता।

रूप के आधार भूत द्रव्य तीन हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) अग्नि इन तीनों में ही रूप पाया जाता है। जल का शुक्ल रूप है, अग्नि में भास्वर शुक्लता हैं, पृथ्वी में विविध प्रकार के रुप होते हैं। इनमें भी जल और अग्नि का रूप स्थायी रहता है, अत: नित्य है, किन्तु पृथ्वी के रूप अग्नि संयोग से बदलते रहते हैं। इन बदलने वाले गुणों को पांकज गुण कहते हैं। इस लिये यह कार्यगत रूप अनित्य होता है।

रस का लक्षण

जो गुण रसनेन्द्रिय से ग्राह्य है वही रस कहलाता है। "रसनाग्राह्यगुणो रस:" यह रस पृथ्वी तथा जल में पाया जाता है। जल में केवल अव्यक्त मधुर रस और पृथ्वी में सभी प्रकार के रस पाये जाते हैं। रस छ: होते है— (१) मधुर (२) अम्ल (३) लवण (४) कटु (चरपरा) (५) तिक्त (३) कषाय।

चरक संहिता सूत्र स्थान में रस का लक्षण इस प्रकार है—

रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमाप: क्षितिस्तथा।
निर्वृत्तौ च विशेषे च प्रत्यया: खादयस्त्रय:॥ चरक सू०॥

रस का ज्ञान जिह्वा के द्वारा होता है तथा रस की योनि जल है और रसों का आधार पृथ्वी है। प्रधान कारण जल ही है। पृथ्वी में जल महाभूत के अनुप्रवेश से रस की अभिव्यक्ति होती है। अत: पृथ्वी गौण आधार है। रसों की अनेकता में जल के साथ अग्नि, वायु और आकाश कारण हैं। अर्थात् जल के साथ जिस महाभूत की अधिकता होती है, उसी के अनुसार रस का निर्माण होता है। जैसे जल और पृथ्वी की अधिकता से मधुर रस का निर्माण होता है। चरक सूत्र स्थान २६ वें अध्याय में इसी बात का स्पष्टीकरण मिलता है।

"तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पंचमहाभूत गुणसमन्विता जंगमस्थावराणाँ भूतानों मूर्तिरभिप्रीणयन्ति, यासु षड्भिर्मूच्छन्तिरसा." च०सू० २६

आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ चरक सहिता में रसों के सम्बन्ध में विभिन्न ऋषियों के मतों का विवरण देते हुये ६ रसों का सैद्धान्तिक निर्णय, रसों की विविधता होने पर भी गुण, प्रकृति और स्वभाव के अनुसार छ: ही प्रकार बताये है। इसी प्रकार रसों के परस्पर संयोग से सत्तावान और कल्पना विशेष के ६३ भेद भी रसों के वर्णन किये हैं। रसों के विकल्प के अनुसार ही दोषों का विकल्प होता है। अत: जो चिकित्सक रसों के विकल्प के साथ साथ दोषों के विकल्प को जानता है वह व्यक्ति के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा में मोह को प्राप्त नहीं हो सकता है। इस विषय का विशिष्ट विवेचन द्रव्य गुण शास्त्र में है।

गन्ध का लक्षण—

घ्राण इन्द्रिय द्वारा जिस गुण का ज्ञान होता है, उसे गन्घ कहते हैं। "घ्राणग्राह्यगुणो गन्ध:" यह गुण केवल पृथ्वी में हीं पाया जाता है, अन्य में नहीं। गन्ध दो प्रकार का होता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध।

स्पर्श का लक्षण

केवल त्वचा से जिस गुण का ज्ञान होता है, उसको स्पर्श कहते हैं। "त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्योगुण: स्पर्श:" यह स्पर्श तीन प्रकार का होता है—(१) शीत (२) उष्ण (३) अनुष्णाशीत (न ठंडा न गरम)।

स्पर्श पृथ्वी, जल तथा अग्नि इन तीन द्रव्यों में पाया जाता है। जल का स्पर्श शीतल, अग्नि का उष्ण और वायु का स्पर्श अनुष्णाशीत है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श यह चारों गण आश्रय भेद से नित्य और अनित्य दो प्रकार के होते हैं, परमाणु रूप नित्य तथा कार्य रूप अनित्य है। किन्तु पृथ्वी के परमाणुओं के साथ यह बात नही है, क्योंकि अग्नि के संयोग से उसमें नवीन पाकज गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

"रूपादिचतुष्टय पृथिव्याँ पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च" (तर्क संग्रह)।

शब्द का लक्षण—

श्रोत्रेन्द्रिय से जिस गुण का ज्ञान होता है, वही शब्द है। शब्द आकाश का गुण है। यह संयोग, विभाग तथा शब्द से उत्पन्न होता है और क्षणिक है। यह शब्द दो प्रकार का होता है—(१) ध्वन्यात्मक (२) वर्णात्मक।

वर्णात्मक शब्द, वर्णोच्चरण की इच्छा उत्पन्न होने पर आत्मा का वायु के साथ संयोग होता है। तब वायु में कर्म की उत्पत्ति होकर वह ऊपर की ओर जाता है और कण्ठ, तालु, ओष्ठादि के साथ सम्पर्क होकर उच्चारित होता है।

ध्वन्यात्मक शब्द संयोग या विभाग से उत्पन्न होता है। ढोल तथा लकड़ी के संयोग से, और बांस को बीच से फाड़ने पर विभाग से होता है। एक शब्द से दूसरे शब्द की उत्पत्ति बीचीतरङ्ग न्याय से होती है। तालाब के बीच में पत्थर डालने पर जल में तरंगे उठती हैं और पहली तरंग दूसरी को दूसरी तीसरी को इस प्रकार पूर्व-पूर्व तरंगें अगली को उत्पन्न करती है तथा स्वयं नष्ट हो जाती हैं। इसी को बीचीतरङ्ग न्याय कहते हैं।

शब्द एक स्थान से दूसरे स्थान तक बीचीतरंगन्याय और कदंब मुकुल न्याय से जाता है। बीचीतरंग न्याय से शब्द उत्तरोत्तर शब्दों को उत्पन्न कर दूर तक पहुंचता है उत्तरोत्तर शब्दों का निर्माण तभी तक होता है, जब तक उसमें शक्ति होती है, क्योंकि उत्तरोत्तर क्रिया में प्रथम शब्द से दूसरे शब्द की तरंग कम हो जाती है। यही कारण है कि शब्द अधिक दूर तक सुना नही जा सकता है। यही नहीं शब्द चारों दिशाओं में भी सुनाई देता है, जिस

न्याय से ऐसा होता है वह 'कदम्ब मुकुल न्याय' हैं, जिस प्रकार कदम्ब पुष्प के परागकण चारों ओर एक साथ विकसित होते है, उसी प्रकार शब्द भी चारों दिशाओं में फैल जाता है। नदी पार कोई व्यक्ति कुल्हाड़ी से लकड़ी काट रहा हो तो इस पार हमको शब्द तब सुनाई देता है, जब कुल्हाड़ी पुन: ऊपर उठ जाती है। इससे सिद्ध होता कि शब्द की तरंगे वायु के साथ आती हें और उनके आने में अर्थात् हमारे कान तक पहुंचाने में समय लग जाता है। अत: शब्द में गति नही है वह वायु की सहायता से उपरोक्त दोनों न्यायों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाता है। इस प्रकार नैयायिक शब्द को सादि और सान्त मानते हैं। अर्थात् उनके मत में शब्द अनित्य है।

परन्तु मीमाँसकों का कथन है कि शब्द नित्य है, जो क, ट आदि वर्ण आज सुनाई देता है, वही शब्द आकाश में अनादि काल से विद्यमान है। उसकी न कभी उत्पत्ति होती है और न विनाश, केवल आवरण के कारण वह सदा सुनाई नहीं देता है। अत: शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नही होती है।

वैयाकरणों ने वर्ण क्रम हीन, निरवयव नित्य शब्द की कल्पना की है। जिसे वे "स्फुटत्यर्थोऽस्मात्" (जिसमें अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पति के अनुसार स्फोटनाम से व्यवहृत करते हे। परन्तु वे शब्द स्फोट से बढकर वाक्य स्फोट मानते हैं और वाक्य स्फोट को ही नित्य समझते हैं। शब्द का अन्य विवरण शब्द प्रमाण में किया गया है।

संख्या का लक्षण—

जिस गुण के कारण एक दो आदि व्यवहार किया जाता है, उसे संख्या कहते हैं, अर्थात् जिस आधार पर गिनती की जाती है, वही संख्या है। "एकत्वादि व्यवहार हेतु: संख्या" संख्या सभी द्रव्यों में समान रूप से पायी जाती है। यह संख्या एक से लेकर पराध तक मानी गई है। एकत्व परमाणु के साथ नित्य और कार्य द्रव के साथ अनित्य होता है। परन्तु दो से ऊपर की संख्या सर्वत्र अनित्य होती है। क्योंकि इनका ज्ञान अपेक्षा बुद्धि से होता है, जैसे-—दो में एक मिलाने से तीन, तीन में एक मिलाने से चार होता है। इस संयोग का विभाजन होने पर पुन: एक में ही आ जाती है। इसी को अपेक्षा बुद्धि कहते हैं।

एकदशशत चैव सहस्त्रमयुत तथा।
लक्षं च नियुतञ्चैव कोटिरर्बुदमेव च॥
वृन्द खर्वो निखर्वश्च शङ्खः पद्मश्चसागरः।
अन्त्यं मध्यं परार्ध च दशवृद्धया वथा क्रमम्॥

परिमाण--

जिस गुण से वस्तु का भार तथा छोटे-बड़ आकार का ज्ञान होता है उसको परिमाण कहते हैं। "मानव्यवहारा साधारण कारण परिमाणम्" यह परिमाण सभी द्रव्यों में पाया जाता है और अणु, महत्, ह्रस्व तथा दीर्घ भेद से चार प्रकार का होता है। परिमाण भी आश्रय भेद से नित्य तथा अनित्य है। परमाणुओं का परिमाण (परिमाण्डल्य) नित्य होता है। आकाशादि व्यापक पदार्थों का परिमाण (परममहत्) नित्य है, किन्तु इन दोनों के मध्य-वर्ती परिमाण अनित्य होते हैं।

पृथकत्व—

यह वस्त्र घट से अलग है, इस प्रकार का ज्ञान जिस आधार पर होता है उसे पृथक्त्व कहते हैं। इसकी वृत्ति सभी द्रव्यों में है, पृथक्त्व भी आश्रय के अनुसार नित्य और अनित्य होता है। पृथक्त्व तीन प्रकार का होता है — (१) असंयोग लक्षण—जिनका कभी सयोग नहीं हो सकता है जैसे मेरू तथा हिमालय का पृथक्त्व। (२) वैलक्षण्य रूप—विशिष्ट लक्षणों वाले विजातीय पदार्थों का पार्थक्य जैसे गाय, बकरी, भैंस आदि। (३) अनेकता रूप— समान जाति वाले भी एक दूसरे से पृथक होते हैं, जैसे पंजाब का उड़द और उत्तर प्रदेश का उड़द।

संयोग--

सयोग दो वस्तुओं का बाह्य सम्बन्ध है तथा दो या दो से अधिक वस्तुओं का परस्पर मिलना जिस गुण के आधार पर होता है उसको संयोग कहते है। यह दो के कर्म से, बहुतों के कर्म से तथा एक के कर्म से होता है और यह अनित्य है। "अप्राप्तयोस्तुयाप्राप्तिः सैव संयोग ईरितः" जब पक्षी उड़कर वृक्ष पर बैठता है। तो इसमें वृक्ष स्थिर है और पक्षी ने कर्म किया यह एक कर्मज है जिसमें दोनों पक्ष कर्मयुक्त होते हैं, जैसे दो बैल दोनों ओर से चलकर लड़ते हैं। यह दोनों पक्ष कर्मशील हैं अतः यह उभयकर्मज कहलाता है। जहाँ एक पक्ष का कोई अवयव दूसरे पक्ष से मिलता है, इसको संयोगज कहते है।

विभाग--

संयोग का विनाश जिस गुण के आधार पर होता है उसे विभाग कहते हैं "संयोग नाशको गुणो विभागः" अर्थात् जो पदार्थ पहले संयुक्त थे, उनका अलग २ हो जाना ही विभाग है। यह भी संयोग के समान तीन प्रकार का होता है। उभयकर्मज, सर्वकर्मज तथा एक कर्मज। संयोग से विभाग का

विनाश होता है इसलिये विभाग भी अनित्य है। वैशेषिकों ने भी विभाग तीन प्रकार का माना है– (१) अन्यतरकर्मज (२) उभयकर्मज और (३) विभाजन। विभागज विभाग उसे कहते हैं, जिसमें एक विभाग होने पर दूसरा विभाग भी हो जाता है, जैसे– किसी शाखा से पत्ता गिरने पर शाखा के साथ साथ पत्ते का वृक्ष से भी विभाग हो जाता है।

परत्वापरत्व–

यह दूर है, यह समीप है, ऐसा प्रयोग जिन गुणों के आधार पर होता है, उसे परत्वापरत्व कहते हैं। दैशिक और कालिक भेद से परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं। जिसका स्थान से सम्बन्ध हो उसे दैशिक कहते हैं जैसे सूर्य में परत्व (दूरदेशीयता) है और समीपवर्ती दीपक में अपरत्व है, क्योंकि उसके और हमारे बीच में बहुत कम दिशा का अन्तर है।

जिसका समय से सम्बन्ध हो उसे कालिक कहते हैं, जैसे महाभारत हुये बहुत समय बीत गया है, यह समय वर्वमान समय से दूरी पर है, अतः इसे कालिक परत्व और यह मन्दिर अभी हाल का बना हुआ है, इसे अपरकालिक कहेंगे। परत्वापरत्व की वृत्ति पृथ्वी आदि चार भूतों तथा मन में है। दैशिक परत्वापरत्व केवल मूर्त्त द्रव्यों में होता है। कालिक परत्व और अपरत्व कार्य द्रव्यों अर्थात् जन्य द्रव्यों में होता है।

गुरुत्व का लक्षण–

किसी वस्तु का स्वाभाविक पतन जिस गुण के कारण होता है उसे गुरुत्व कहते हैं "आद्यपतनासमवायिकारण गुरुत्वम्" ऊपर से यदि कूद पड़ें तो इस कूदने को पतन नहीं कहा जायेगा, क्योंकि यह स्वाभाविक नहीं है। यह कूदना वेग द्वारा होता है, अतः बिना वेग के जो पतन होता है उसे गुरुत्व जानना चाहिये।

संयोग के द्वारा भी पतन होता है, जैसे ऊपर को जाता हुआ गेंद कोई रुकावट पाकर अथवा हाथ से संयोग होने पर नीचे गिर पड़ता है। यह आरोप केवल पतन का ही नहीं अन्य क्रियाओं का भी कारण होता है, अतः यह सामान्य कारण है, परन्तु गुरुत्व केवल एक मात्र गुरुत्व का ही कारण है। गुरुत्व पृथ्वी और जल में पाया जाता है। यह अतीन्द्रिय है केवल पतन क्रिया से इसका अनुमान किया जाता है।

"संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम्" संयोग न रहने पर गुरुत्व के कारण जो पतन होता है, जैसे वृक्ष पर जब तक फल का संयोग रहता है। तब तक वह नीचे नहीं गिरता है, किन्तु ज्यों ही संयोग समाप्त हुआ और फल नीचे गिर

पड़ता है, यही पतन है। और यह गुरुत्व के ही कारण होता है। इसमें फलवर्ती गुरुत्व असमवायी कारण, फल समवायी कारण और संयोग का अभाव निमित्त कारण है।

"संस्काराभावे गुरुत्वात्पनम्" संस्कार के समाप्त होने पर गुरुत्व से बाण का पतन होता है। वास्तव में जब तक बाण में वेग नहीं होता है तब तक उसका पतन नहीं होता है। यह वेग उत्तरोत्तर क्षीण होता है तो बाण वेग के क्रमशः क्षीण होने से नीचे गिर पड़ता है। गुरुत्व से लघुत्व का भी लक्षण समझ लेना चाहिये। क्योंकि गुरु और लघु दोनों सापेक्ष गुण हैं।

द्रवत्व का लक्षण---

जिस गुण के कारण कोई वस्तु बहती है उसे द्रवत्व कहते हैं। "आद्य-स्यन्दना समवायिकारण द्रवत्वम्" यह द्रवत्व दो प्रकार का होता है—(१) साँसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में पाया जाता है। (२) नैमितिक अर्थात् कारण विशेष से उत्पन्न होने वाला द्रवत्व जैसे—मोम अग्नि के संयोग से पिघल जाता है।

द्रवत्व तीन द्रव्यों में पाया जाता है—जल, पृथ्वी और अग्नि में, जल में स्वाभाविक और पृथ्वी में कृत्रिम द्रवत्व होता है, वह भी किसी २ वस्तु में होता है सबमें नहीं अग्नि में भी नैमित्तिक द्रवत्य ही होता है।

स्नेह का लक्षण---

जिस गुण के द्वारा आटा, सत्तू आदि को सानकर पिण्डीभाव (गोला) हो जाता है उसे स्नेह कहते हैं। "चूर्णादि पिण्ड़ीभाव हेतुर्गुणः स्नेहः" स्नेह केवल जल का ही गुण है। यदि कहें कि पिण्डीभाव को द्रवत्व का ही लक्षण क्यों नहीं मानते हैं। इसके लिये स्नेह को पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है। वैशेषिकों का कथन है कि पिण्डीभाव और द्रवत्व इन दोनों में कार्य कारण सम्बन्ध नहीं है। यदि ऐसा होता तो जितना अधिक द्रवत्व हो उतना ही अधिक पिण्डीभाव होना चाहिये परन्तु देखा जाता है कि अधिक द्रवत्व से चूर्ण बह जाता है उसका पिण्डीभाव नहीं होता है। इस लिये पिण्डीभाव में द्रवत्व कारण नहीं, अपितु स्नेह ही कारण है।

मेरे विचार में प्रत्येक द्रव्य के परमाणु इस जलगत स्नेह के कारण ही परस्पर संयुक्त रहते हैं, वैज्ञानिक इसे आकर्षण कहते हैं, किन्तु जब हम सूखे लकड़ी के टुकड़े को अग्नि में जलाते हैं तो उसमें कुछ धुआँ अवश्य निकलता है। क्योंकि धुआँ बिना जलीयाँस के नहीं निकलता है, अतः उसमें द्रवत्व का अंश सिद्ध हो जाता है। पुनः धुआँ निकलने के पश्चात् लकड़ी की राख बन जाती है। स्पष्ट है कि लकड़ी के अवयव जिस गुण से परस्पर संयुक्त थे उस

गुण का अग्नि संयोग से विनाश हो जाता है, अतः वह राख (चूर्ण) रूप में परणित हो जाता है। स्निग्ध रूक्ष ये दोनों सापेक्ष गुण हैं। अतः स्नेह से रूक्ष का वर्णन भी समझ लेना चाहिये।

बुद्धि का लक्षण---

ज्ञान का ही दूसरा नाम बुद्धि है, अतः सम्पूर्ण व्यवहारों का कारण जो ज्ञान होता है उसे बुद्धि कहते हैं। "सर्वव्यवहारहेतुर्ज्ञान बुद्धिः" वैशेषिक मतानुसार बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि और प्रत्यय यह पर्याय शब्द हैं। बुद्धि, घृति और स्मृति भेद से यह तीन प्रकार की होती है। बुद्धि के दो भेद होते हैं - (१) स्मृति (२) अनुभव।

पहले प्रत्यक्ष किये गये पदार्थों का कलान्तर में बिना इन्द्रिय सन्निकर्ष के जो ज्ञान होता है उसे स्मृति कहते हैं। "संस्कार अन्यं ज्ञानं स्मृतिः" और इन्द्रियों द्वारा विषय का प्रत्यक्ष करने पर जो यथार्थ ज्ञात होता है उसे अनुभव कहते हैं। इसी यथार्थ अनुभव का नाम प्रमा है। यह अनुभव प्रत्यक्ष लैङ्गिक और शाब्द भेद से तीन प्रकार का होता है। अनुभव भी यथार्थ और अयथार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। अयथार्थ अनुभव के तीन भेद होते हैं—(१) संशय (२) विपर्यय (३) तर्क।

(१) एक प्रकार की वस्तु में उसके विरूद्ध अनेक प्रकार के धर्मों का ज्ञान होना संशय कहलाता है। जैसे अन्धेरे में दूर खड़े सूखे टूटे वृक्ष में, पुरुष, भूत या स्थाणु आदि का भिन्न ज्ञान होना। "एकस्मिन्धर्मणि विरुद्ध नानाधर्म वैशिष्ठ्यावगाही ज्ञानं संशयः"।

(२) असत्य ज्ञान हो जाना विपर्यय कहलाता है। जैसे सड़क पर पड़े चमकते सीप के बटन में चवन्नी का ज्ञान तथा अन्धेरे में भूमि पर पड़ी रज्जु में सर्प का ज्ञान होना। "मिथ्याज्ञानं विपर्ययः"।
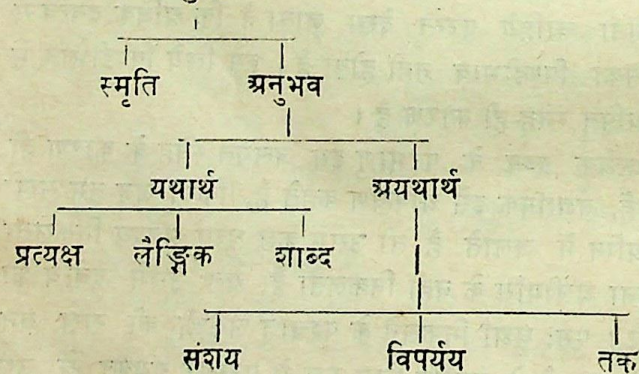
बुद्धि के प्रकरण में ज्ञान की मीमाँसा प्रशस्तपाद भाष्य में इस प्रकार की गई है कि—सामान्यत: ज्ञान दो प्रकार का होता है — (१) विद्या (२) अविद्या। विद्या के चार प्रकार होते हैं। प्रत्यक्ष, लैंगिक, स्मृति और आर्ष। इनमें प्रत्यक्ष और अनुमान नैयायिकों के समान हैं। स्मृति स्मरण ज्ञान और ऋषियों द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का प्रतिभाजन्य यथार्थ ज्ञान आर्ष कहलाता है

अविद्या भी चार प्रकार की है। संशय, विपर्यय अनध्यवसाय और स्वप्न। अनेक प्रसिद्ध विशेष वाले दो पदार्थों में सादृश्य मात्र के दर्शन से और उभयस्थ विशेषों के स्मरण न करने से उभयावलम्बी विमर्श को संशय कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है – (१) अन्त: और (२) बाह्य। अवस्तु में वस्तु का ज्ञान विपर्यय कहलाता है अर्थात् भ्रम ज्ञान। अनध्यवसाय अनिश्चय को कहते हैं, जैसे यह क्या है ऐसा आलोचनमात्र ज्ञान। स्वप्न प्रसिद्ध ही है।

सुख तथा दु:ख का लक्षण --

जो सबको आनन्द का अनुभव कराये उसे सुख कहते हैं। किन्तु व्यवहार में एक वस्तु किसी के लिये आनन्द दायक होती है तो वही वस्तु दूसरे के लिये आनन्द दायक नहीं होती हैं। अत: सुख का लक्षण करेंगे कि जिस कारण से आत्मा को ऐसा अनुभव हो कि मैं सुखी हूँ वही सुख है। जैसे मिठाई से आनन्द प्राप्त होता है तो क्या मिठाई सुख है ? नहीं मिठाई सुख का साधन मात्र है। संक्षेप में सुख वह है जो स्वय को आनन्द रूप हो और दूसरों को भी आनन्दित करे।

इसके विपरीत जो सबको प्रतिकूल अनुभव हो उसे दु:ख कहते हैं। "अधर्मजन्य प्रतिकुलवेदनीयं दु:खम्" अर्थात् जो अधर्म जन्य है तथा परम द्वेष का विषय है, उसे दु:ख कहते हैं।

इच्छा और द्वेष का लक्षण–

किसी वस्तु की कामना करना इच्छा है जो वस्तु प्राप्त नहीं है उसे अपने या दूसरे के लिए प्राप्त करना इच्छा कहलाती है "स्वार्थ परार्थंवार प्राप्त प्रार्थनेच्छा:" यह इच्छा धर्म तथा अधर्म का मूल है इच्छा के विषय अनेक हैं। भोजन विषयक इच्छा 'अभिलाषा', मैथुनेच्छा 'काम' किसी वस्तु में निरन्तर आसक्ति 'राग', भविष्य में किसी काम को करने की इच्छा 'संकल्प' अपने स्वार्थ को छोड़ पर:दु:ख दूर करने की इच्छा 'कारुण्य' विषय त्याग की इच्छा 'वैराग्य' दूसरों को ठगने की इच्छा 'उपधा' अन्तकरण में गुप्त इच्छा को भाव कहते हैं। इसी प्रकार क्रिया भेद से भी इच्छा कई प्रकार कीं होती है। चिकीर्षा, जिहीर्षा आदि।

इच्छा की उत्पत्ति आत्मा और मन के संयोग से सुख दुःखादि स्मृति के कारण होती है। द्वेष इच्छा के विपरीत है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने को प्रज्वलित अनुभव करे यह द्वेष है। "ज्वलनात्मको द्वेषः" द्वेष भी इच्छा के समान आत्ममनः संयोग से सुख दुःखादि के कारण उत्पन्न होता है और यह प्रयत्न, स्मृति धर्माधर्म का मूल है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष यह द्वेष के भिन्न २ प्रकार हैं।

संस्कार का लक्षण---

कार्य आरम्भ करने वाले गुण को प्रयत्न कहते है, अर्थात् चेष्टा का नाम प्रयत्न है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह यह प्रयत्न के ही भेद है। यह दो प्रकार का है—(१) जीवन पूर्वक प्रयत्न (२) इच्छाद्वेष पूर्वक प्रयत्न।

(१) जीवन पूर्वक प्रयत्न वह है, जिसके द्वारा स्वप्नावस्था में स्वासादि की क्रिया प्रवृत्त होती है और जाग्रत अवस्था में जो आत्मा, मन तथा इन्द्रियों का संयोग कराता है।

(२) इच्छा द्वेष पूर्वक अर्थात् जो प्रयत्न इच्छा और द्वेष के कारण होता है। हित प्राप्ति के लिये जो प्रवृत्ति मूलक चेष्टा की जाती हैं वह इच्छा पूर्वक और अहित का परिहार करने के लिये जो निवृत्ति मूलक चेष्टा की जाती है, वह द्वेष पूर्वक प्रयत्न है।

धर्माधर्म का लक्षण--

धर्म आत्म गुण है, "धर्मः पुरुषगुणः" वेदविहित कर्म करने से जो पुण्य होता है, उसी को धर्म कहते हैं। "विहितकर्मजन्यो गुणो धर्मः" (वै०द०) यह करने वाले को सुखकारक तथा मोक्षदायक होता है। यह अतीन्द्रिय है। अधर्म भी आत्मा का गुण है परन्तु यह कर्त्ता के अहित के लिये होता है और दुःखकारक है। वेद निषिद्ध कार्यों को करने से जो पाप होता है, उस गुण को अधर्म कहते हैं।

प्रयत्न का लक्षण---

किसी वस्तु में दूसरे गुणों का आधान करना संस्कार कहलाता है। यह तीन प्रकार से बलवान हो जाता है, जैसे—(१) जहां पर अनुभूत विषय आश्चर्य जनक हो जैसे बालक हाथी देखकर चकित हो जाता है। अतः बालक में हाथी का संस्कार प्रबल रूप में बन्ध जाता है। (२) निरन्तर अभ्यास करने से भी संस्कार दृढ़ होता है, जैसे विद्याभ्यास, शिल्पकलाभ्या आदि। (३)

अपूर्व सुन्दर वस्तु को देखने पर भी संस्कार जम जाता है, जैसे सुन्दर बाग में कमलदल सुसज्जित सरोवर को देखने से।

वैशेषिकमतानुसार संस्कार तीन प्रकार का होता है—(१) भावना (२) वेग (३) स्थितिस्थापक।

भावना—यह आत्म गुण है, यही स्मरण तथा प्रतिभिज्ञान का कारण है अर्थात् पूर्वानुभूत संस्कारों की पहिचान संस्कार से ही होती है।

वेग—मूर्तिमान द्रव्यों में कारण विशेष से वेग उत्पन्न होना है जिसके कारण नियत दिशा की ओर उनका गति प्रवाह होता है।

स्थितिस्थापक—इसके कारण पदार्थों के अवयव अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं परन्तु फिर अपने स्वाभाविक स्थान में साथ ही लौट आते हैं। जैसे वृक्ष की शाखा को झुकाने पर वह नीचे आ जाती है किन्तु छोड़ देने पर पुनः अपने स्थान पर चली जाती है। इसी गुण को स्थिति स्थापक संस्कार कहते है।

आयुर्वेद के अनुसार मर्दन, भावना, रंधन आदि अनेक प्रकार की क्रियाओं द्वारा वस्तु में अन्य गुणों का आधान करना संस्कार है। किसी औषध में भिन्न २ गुण वाले वानस्पतिक पदार्थ के स्वरस, क्वाथ आदि मिलाकर मर्दन करना भावना कहलाती है। इस प्रकार औषधियों में गुणन्तराधान होता है। इसी प्रकार पदार्थ को विविध द्रव्यों के संयोग से अग्नि में पाक करना रन्धन संस्कार होता है। कुछ भी हो हम अपने पुराने संस्कारों के बल पर ही बीती हुई बातों का स्मरण रखते हैं और इन संस्कारों के आधार पर ही अपनी भविष्य की सृष्टि का निर्माण करते हैं। संस्कारों द्वारा हम एक पदार्थ को अनेक कल्पनाओं द्वारा भिन्न २ रूप में प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार मन्द और तीक्ष्ण वे गुण, है जिनके कारण क्रमशः शरीर की क्रियायें मन्द और तीक्ष्ण रूप में होती हैं। तीक्ष्ण गुण के कारण द्रव्य आशुकारी होने से शीघ्र क्रिया करने वाला होता है। इसी प्रकार स्थिर गुण वायु तथा मल का स्तम्भक है और 'सर' गुण बात एवं मल का प्रवर्तक है।

पिच्छिल तथा विशद गुण क्रमशः—बलकारक, गर, श्लेष्मल और सहननकर्त्ता एवं क्लेद का आचूषण, स्त्रोतों का शोषण करते हैं। स्थूल गुण शरीर में स्थूलता उत्पन्न करता है तथा स्त्रोतों का अवरोध कर देता है इसके विपरीत सूक्ष्म गुण, सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्त्रोतों में प्रवेश करने वाला होता है। द्रव्यों के इन गुणों के ज्ञान से चिकित्सा सार्थक होती हैं।

कर्म निरूपण

कर्म का लक्षण–

जो द्रव्य के संयोग और वियोग के कारण हो द्रव्य के आश्रय में रहता हो तथा संयोग और विभाग के होने पर अपनी उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले पदार्थ की अपेक्षा नहीं करता हो उसे कर्म कहते हैं। कर्तव्य की जो क्रिया है वही कर्म है।

संयोगे च वियोगे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते॥ च० सू० १॥

कणाद् कर्म का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

"एकद्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारण मितिकर्मलक्षणम्" ॥

अर्थात् कर्म वह है जो एक ही द्रव्य के आश्रित रहे, स्वयं गुण से रहित हो और संयोग-विभाग का निरपेक्ष कारण हो।

एक द्रव्यम्—कर्म भी गुण के समान द्रव्य के आश्रित रहता है। परन्तु कर्म और गुण में यह भेद है कि गुण कुछ ऐसे भी हैं जो अनेक द्रव्यों के आश्रित रहते हैं जैसे संयोग गुण अग्नि तथा इन्धन दोनों के आश्रित रहता है यह उभयनिष्ठ गुण है। किन्तु कर्म में यह बात नहीं होती है वह सदा एक ही द्रव्य के आश्रित रहता है। कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जो दो द्रव्यों के आश्रित हो इसे एकनिष्ठ कहते हैं अतः 'एक द्रव्यम्' कहा है।

अगुणम् जैसे गुण स्वयं किसी गुण का आधार नहीं होता है उसी प्रकार कर्म भी गुण का आधार नहीं होता है। अतः कर्म गुण रहित है।

संयोग विभागेष्वनपेक्ष कारणम्—जो सयोग विभाग की उत्पत्ति करने में अपनी उत्पत्ति से अनन्तर उत्पन्न होने वाले भाव पदार्थ को अपेक्षा नहीं करता उसका नाम 'संयोगविभागेष्वनपेक्ष कारण' है।

चरक संहिता में कर्म निरूपण करते हुए 'प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते' ऐसा कहा है। अर्थात ऐसी चेष्टा जो प्रयत्न जीवनयोनि-प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि के कारण हैं उसे कर्म कहते हैं कि विक्षेपे धातु से मनिन् प्रत्यय लगाने पर कर्मन् शब्द सिद्ध होता है। जिसके प्रथम वचन का रूप कर्म है।

कर्म के भेद–

कर्म पाँच प्रकार का वर्गीकरण की दृष्टि से माना है—(१) उत्पेक्षण (२) अपक्षीपण (३) आकुञ्चन (४) प्रसारण (५) गमन।

उत्पेक्षण – जिस कर्म से वस्तु का ऊपरी प्रदेश से संयोग और अधः प्रदेश से विभाग होता है, उसे उत्पेक्षण कहते हैं। जैसे गेंद का ऊपर उछलना

पक्षी का ऊपर उड़ना आदि । इसी प्रकार शरीरावयवों में भी भावों का ऊपर की ओर जाना उत्क्षेपण ही है । "ऊर्ध्वदेश संयोग हेतुरुत्क्षेपणम्" (त०मं०) ।

अपक्षेपण—जिस क्रिया से अध:प्रदेश से संयोग और उर्ध्वप्रदेश से विभाग होता है उसे अपक्षेपण कहते हैं । जैसे पेड़ से फल गिरना, छत से नीचे कूदना आदि । "अधोदेश संयोगहेतुः अपक्षेपणम् ।

आकुञ्चन –जिस क्रिया द्वारा सीधे अथवा फैले हुये द्रव्य का अग्रभाग सिकुड़कर मूल प्रदेश की ओर आ जाता है उसे आकुञ्चन कहते हैं । इस क्रिया से मूल प्रदेश से संयोग और अग्र प्रदेश से विभाग होता है । जैसे कछुए का अपने अङ्गों को सिकोड़ना, फैले हुए वस्त्र को समेटना आदि । "शरीरस्य सन्निकृष्ट संयोगहेतु आकुञ्चनम्" ।

प्रसारण--आकुञ्चन के विपरीत अग्र या दूरवर्ती प्रदेश से संयोग और मूल प्रदेश से विभाग होना प्रसारण कहलाता है । जैसे लताओं का फैलना जल का फैलना आदि । "विप्रकृष्ट संयोगहेतुः प्रसारणम्" ।

गमन—बिना दिशा का निर्धारण किये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना गमन है । गमन से चलनात्मक क्रिया का बोध होता है, अतः भ्रमण रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, तिर्यग्गमन आदि सभी कर्म गमन के अन्दर ही आ जाते हैं ।

उपरोक्त कर्मों आयुर्वेदोक्त पंचकर्म आदि का भी बोध हो जाता है । कर्म दो प्रकार के लौकिक तथा अध्यात्मिक भेद से कहे गये हैं । उपरोक्त उत्क्षेपणादि कर्म लौकिक कर्मों के ही उदाहरण हैं । अध्यात्मिक कर्मों में सद्वृत्तादि विहित मंगल स्वस्त्ययन आदि का अनुष्ठान है जो स्वस्थ एवं आतुर के लिये हितकारक हैं ।

उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा ।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पच च ॥
भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च ।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते ॥ कारिकावली ॥

सामान्य निरूपण

सामान्य--

अनेक वस्तुओं में एकत्व करने वाला सामान्य है, सामान्य का अर्थ है जाति, जो समान रूप से कई वस्तुओं में रहती है, अर्थात् जाति एक होते हुये भी अनेक व्यक्तियों में समवेत रहती हैं। व्यक्ति उत्पन्न होते और मरते रहते हैं किन्तु जाति का कभी विनाश नहीं होता है, अतः नित्य है। जाति के दो मख्य लक्षण हैं– (१) नित्यत्व (२) अनेक समवेतत्व। घट. पट आदि कार्य द्रव्य भी अनेक समवेत हैं, परन्तु वे नित्य नहीं हैं। आकाश का परिमाण नित्य है किन्तु उसकी वृत्ति एकमात्र आकाश में स्थित है, अतः वह अनेक समवेत नहीं हो सकता है। इसीलिये उसकी कोई जाति भी नहीं हो सकती है। "एक व्यक्तिमात्र वृत्तिस्तु न जातिः" अर्थात् जाति में नित्यत्व के साथ अनेक समवेतत्व होना भी आवश्यक है।

नित्यत्वेसति अनेक समवेतत्वं जातित्वम्॥ सिद्धान्त मुक्तावली॥

अनेक वृत्तित्व कहने से कर्म और रूपादि गुण छंट जाते हैं, क्योंकि वे एक ही द्रव्य के आश्रित रहते हैं। परन्तु सयोग विभाग आदि कुछ ऐसे भी गुण हैं जो अनेकाश्रित हैं परन्तु वह नित्य नहीं होते हैं, अतः वे भी पृथक हो जाते हैं। इतने पर भी काम नहीं चलता है, क्योंकि अत्यन्ताभाव में नित्यत्व और अनेक समवेतत्व दोनों हैं, परन्तु इसे सामान्य नहीं कह सकते हैं, क्योंकि सामान्य अपने आश्रय में समवेत रूप से रहता है, किन्तु अभाव का किसी वस्तु के साथ समवाय सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है, इसी लिये अभाव भी छूंट गया है, इसी प्रकार नित्य द्रव्यों को जो अपना व्यक्तित्व है वह व्यक्तित्व विशेष) भी तो नित्य और अनेक समवेत होता है, परन्तु एकमात्र वृत्ति जाति नहीं हो सकती है, अतः विशेण अर्थात् व्यक्ति की अलग जाति नहीं हो सकती है।

महर्षि चरक ने सामान्य का लक्षण इस प्रकार किया - सामान्य एकत्व करने वाला है। "सामान्यमेकत्वकरम्" (चरक सू० १) तथा भिन्न २ देश और भिन्न २ समय में अनेक गो आदि व्यक्तियों में यह गाय है। इस प्रकार का एकता बुद्धि कराने वाला ज्ञान सामान्य है। "तुल्यार्थता हि सामान्यम्" (चरक सू०) द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों पदार्थों में जो द्रव्य गुण और कर्म है उसकी प्रतीती 'अनुगत बुद्धि' 'अनुवृत्ति प्रत्यय' है। इसी अनुगत बुद्धि तथा अनुवृत्ति प्रत्यय को सामान्य कहते हैं।

सामान्य के भेद---

सामान्य दो प्रकार का है—(१) परसामान्य (२) अपरसामान्य।
परसामान्य—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति परसामान्य है, जैसे सत्ता, सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में व्यापक है। अतः सत्ता परसामान्य है।

अपरसामान्य—कम व्यक्तियों में रहने वाली जाति अपरसामग्य है, जैसे द्रव्यत्व की अपेक्षा पृथ्वीत्व, कम व्यापक होने से अपर है।

द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते।
परभिन्नतुयाजातिः सेवापरतयोच्यते ॥भा० प०॥

परापरत्व आपेक्षिक होते हैं, जैसे द्रव्यत्व सत्ता की अपेक्षा कम विस्तारयुक्त हैं, अतः अपर है। किन्तु द्रव्यत्व पृथ्वीत्व की अपेक्षा अधिक विस्तार वाला होने से परसामान्य है।

चरक संहिता में चक्रपाणि ने सामान्य के तीन भेदों का विवरण दिया है। इनमें (१) "सामान्य मेकत्वकरम्" 'गुण सामान्य' (२) "तुल्यार्थताहि-सामान्यम्" कर्मसामान्य और (३) "सामान्यवृद्धिकारणम् द्रव्य सामान्य कहा है।

गुण सामान्य – जैसे दुग्ध और शुक्र दोनों भिन्न जातीय होने पर भी दुग्ध माधुर्य गुण के कारण शुक्र वर्धक है।

कर्मसामान्य-—जैसे निरन्तर बैठे रहना कर्म श्लेष्मा के सामान न होते हुये भी कफ की वृद्धि करता है। अधिक तैरना कर्म बात वर्द्धक है।

द्रव्य सामान्य— जैसे कोई भी माँस, माँस को बढ़ाता है, यहाँ माँस विजातीय होने पर भी द्रव्यत्वात् सामान्य है।

भट्टार हरिश्चन्द्र ने उपरोक्त भेदों को न मानकर उपरोक्त तीनों का "सर्वदा सर्वभावानां सामान्य वृद्धिकारणम्" इसी परिभाषा में समावेश कर दिया है। उनके विचार से सामान्य के निम्नलिखित तीन भेद किये जा सकते हैं। जैसे—(१) अत्यन्त सामान्य (२) अध्यसामान्य (३) एकदेश सामान्य। परन्तु चक्रपाणि इनका कोई महत्व नहीं समझते हैं।

सामान्यं द्विविध प्रोक्त परं चापरमेव च।
द्रव्यदि त्रिक्वृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते ॥
परभिन्नातुया जातिः सेवापरतयोच्यते।
द्रव्यत्वदिक् जातिस्तु परापरतयोच्यते ॥
व्यापकत्वात्परापिन्यात् व्याप्यत्वादपरापि च ॥ कारिकावली

सामान्य और जाति---

निम्नलिखित कारणों से सामान्य जाति नहीं हो सकती है—

(१) व्यक्ति का अभेद - भिन्न २ व्यक्तियों में एकता लाने वाला धर्म जाति है, किन्तु केवल एक व्यापक पदार्थ हो तो उसकी जाति नहीं हो सकती है, जैसे—आकाश सर्वत्र एक ही हैं तो उसकी 'आकाशत्व जाति नहीं होगी।

(२) तुल्यत्व—एक ही वस्तु के भिन्न नाम जो एक ही अर्थ के वाचक हों उनमें भिन्न २ जातियाँ होंगी: जैसे—'घटत्व' और 'कलशत्व' दो जातियाँ न होकर एक ही हैं।

(३) संकरता—जिसमें एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य में और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति पहले सामान्य में मिल जायें, वहाँ संकरता दोष समझना चाहिये। "परस्परात्यन्ताभाव समनाधिकरणयोरेकत्र समावेश: साङ्कर्यम्"।

(४) अनवस्था—सामान्य की जाति नहीं होती है, जैसे मनुष्य की जाति मनुष्यत्व है, यदि मनुष्यत्व की भी जाति मनुष्यत्वता और फिर उसकी भी जाति निरन्तर मानते जायं तो अनवस्था दोष आ जायेगा, इसी लिये जाति की कोई जाति नहीं होतो है।

(५) रूपहानि - जिस व्यक्ति की जाति की कल्पना करने पर उसे व्यक्ति का स्वरूप ही नष्ट हो जाये वह भी जाति नहीं हो सकती है, जैसे विशेष सामान्य का विरोधी है और हम विशेष की भी जाति मानलें तो वह विशेष नहीं रह जायेगा। इसीलिये विशेष अनेक होने पर भी विशेषत्व जाति नहीं हो सकती है।

(६) असम्बन्ध— सम्बन्ध का तात्पर्य समवाय सम्बन्ध से है, जहां समवाय सम्बन्ध का अभाव हो वहाँ जाति नहीं होती हे, अत: समवाय जाति नहीं हो सकती है, क्योंकि जाति का व्यक्ति के साथ समवाय सम्बन्ध होता है। किन्तु जाति का ज़ाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है अथवा समवाय का स्वयं के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य, विशेष और समवाय की कोई जाति नहीं होती है। केवल द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में ही जाति रहती है। इसके अतिरिक्त सामान्य शब्द से केवल जाति का ही ग्रहण होगा, उपाधि का नहीं। जैसे-- गो में गोत्व जाति है परन्तु शृंगित्व यह उपाधि है।

व्यक्तेरभेद तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जाति बाधक संग्रहः ।। किरणावली ।।

विशेष निरूपण

जो धर्म एक व्यक्ति को विश्व के अन्य व्यक्तियों से अलग करता है उसे विशेष कहते है। महर्षि चरक ने विशेष के तीन लक्षण प्रतिपादित किये हैं। यथा— "ह्रासहेतुर्विशेषश्च" । "विशेषस्तुपृथकत्वकृत" । विशेषस्तु विपर्ययः। (चरक सू०) अर्थात ह्रास का हेतु विशेष है। विशेष पृथकता लाने वाला है। सामान्य का विपरीत विशेष होता है। विशेष की कल्पना सामान्य से ठीक विपरीत है। एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्योंकि हैं ? एक आत्मा दूसरे आत्मा से, एक मन दूसरे मन से भिन्न कैसे है। इसी पार्थक्य को स्पष्ट करने के लिए पदार्थों में विशेष पदार्थ की कल्पना की गई है। इसी विशेष प्रतिपादन के कारण कणाद दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा है।

"अत्यन्तव्यावृत्तिहेतुर्विशेषः" । अर्थात जो वस्तु एक व्यक्ति को अन्य सभी व्यक्तियों से अन्ततः पृथक करती है उसे विशेष कहते हैं। सामान्य भी एक वस्तु को दूसरो वस्तु से पृथक करके दिखाता है, जैसे घट के घटत्व सामान्य से पट आदि द्रव्यों का पार्थक्य हो जाता है। परन्तु इस सामान्य से एक घट का दूसरे घट से विभेद नहीं किया जा सकता है। यदि कोई कहे कि यह छोटा सा घड़ा है, यह बड़ा घड़ा है, अथवा यह घट नीला है, यह पीला है। तो इस प्रकार घड़े में पार्थक्य हो सकता है, ठीक है ? किन्तु मान लीजिये दो घड़े एक ही रंग तथा आकार वाले हैं तो इन दोनों में द्वित्व बुद्धि का पार्थक्व किसके द्वारा होगा। सामान्य तो कुछ ही अंश में पृथकता बताता है परन्तु अन्तिम रूप से विभेद कौन करेगा। अतः इस पार्थक्य के निर्णय के लिये दूसरी वस्तु माननी ही पड़ेगी। क्योंकि सामान्य व्यावर्तक होता हुआ भी अत्यन्त व्यावर्तक नहीं है। दो घट कितने ही अंश में समान हों किन्तु उनके परमाणु अवश्य भिन्न होंगे और प्रत्येक परमाणु का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी अवश्य होगा, इसी विशिष्ट व्यक्तित्व का नाम विशेष है। एक विशेष केवल एक ही व्यक्ति में पाया जाता है, अन्य किसी में नहीं। अतः प्रत्येक मूल वस्तु अपनी पृथक सत्ता रखती है, इसीलिए विशेष के द्वारा ही हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु से पृथक् कहते हैं।

विशेष नित्य परमाणुओं में रहता है, अनित्य कार्य में नहीं। विशेष का कभी विनाश नहीं हो सकता है।

विशेष भी (१) द्रव्य विशेष (२) गुण विशेष और (३) कर्म विशेष भेद से तीन प्रकार का है। जैसे जौ, बाजरा, मडुवा आदि रूक्ष पदार्थों से गुरू का ह्रास होता है, क्योंकि यह परस्पर विरोधी हैं।

मधुर, स्निग्ध, पिच्छिल गुणों से वायु की हानि होती है क्योंकि इन गुणों से वायु के गुण विशेष है।

लंघन, अतिभ्रमण, जल प्लावन आदि क्रियाओं से कफ के कार्यों की हानि होती है। यह कर्म विशेष है।

विशेष, अपर सामान्य तथा जाति यह पर्यायवाची शब्द हैं। द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों में व्यापक होने से सत्ता, परसामान्य और सत्ता की अपेक्षा व्याप्य तथा प्रत्येक द्रव्यादि में रहने से द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व को विशेष अपर सामान्य कहा गया है। सत्ता की अपेक्षा से व्याप्य तथा पृथ्वीत्व आदि की अपेक्षा व्यापक होने के कारण इसको परापर जाति भी कहते हैं। परन्तु द्रव्यादि पदार्थों में भी आकाश, काल तथा दिशा में आकाशत्व कालत्व और दिक्त्व तथा सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव में जाति नहीं हैं।

सामान्य एवं विशेष में अन्तर—

सामान्य	विशेष
(१) एकता करने वाला है।	(१) भिन्नता करने वाला है।
(२) वृद्धि का कारण होता है।	(२) ह्रास का कारण होता है।
(३) तुल्यार्थता करता है।	(३) विपरीत अर्थ करता है।
(४) नित्य, एक तथा अनेक समवेत होता है।	(४) नित्य, एक तथा एक समवेत होता है।
(५) सामान्य व्यावर्तक है।	(५) विशेष व्यावर्तक होता है।

उपरोक्त सामान्य तथा विशेष के सिद्धान्त पर आयुर्वेद चिकित्सा की इमारत खड़ी है। संसार एवं शरीर दोनों का विकास इसी सिद्धान्त पर निर्भर है। इसी लिये यह ज्ञान विशेष महत्व का है।

समवाय निरूपण

सम्बन्ध दो प्रकार का होता है–(१) संयोग और (२) समवाय। दो वस्तुओं को परस्पर जोड़ना संयोग है, यह सम्बन्ध बनाया जाता है। अतः इसे अलग भी किया जा सकता है, इसीलिये यह कृत्रिम सम्बन्ध है और अनित्य होता है, परन्तु समवाय उस सम्बन्ध को कहते है जो दो वस्तुओं में सदा से उपस्थित है और कभी अलग नहीं हो सकता है। मनुष्य में जो मनुष्यत्व है उसका सम्बन्ध नित्य और अचल है। इस सम्बन्ध का कभी विच्छेद नहीं हो सकता है। अर्थात् जहाँ घट होगा वहां घटत्व भी रहेगा।

समवाय का लक्षण---

पृथ्वी आदि आधार द्रव्यों के साथ गुर्वादि आधेय गुणों का जो अलग न रहने वाला सम्बन्ध हैं, उसको समवाय कहते हैं, वह नित्य होता है। जहाँ द्रव्य है वहाँ गुण नित्य रूप से विद्यमान रहता है। कपालादि में घटादि का द्रव्यों में गुण और कर्म का, अवयव अवयवी का, जाति और व्यक्ति का, गुण और गुणी का, क्रिया एवं क्रियावान का, नित्य द्रव्य और विशेष का जो सम्बन्ध है, उसे समवाय कहते हैं।

समयवायोऽपृथग्भावो भूम्यादीनाँगुणैर्मतः।
स नित्यो यत्र हि द्रव्यं न तत्रानियतोगुणः ।। चरक सू० ।।
घटादीनाँ कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
तेषुजातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्तितः ।। कारिकावली ।।

अयुतसिद्धों का आधाराधेय भूतों का जो सम्बन्ध है वह प्रत्यय का हेतु है, वही समवाय है। यह सम्बन्ध अनादि तथा अनन्त होता है। "अयुत सिद्धानामाधार्याधार भूतानां यः सम्बन्ध इहेति प्रत्ययहेतुः स समवायः" (प्रशस्तपाद) यह वस्तु उसमें रहती है, ऐसा ज्ञान जहाँ हो वहाँ समवाय सम्बन्ध होता है। धर्म तथा सुख में समवाय सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन दोनों में आधाराधेय भाव नहीं है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी समवाय सम्बन्ध नहीं क्योंकि वे अयुतसिद्ध नहीं है। समवाय के लिये अयुतसिद्ध और आधाराधेय सम्बन्ध दोनों का होना आवश्यक है।

अभाव का वर्णन पदार्थों के लक्षण के साथ हो चुका है।

कारण---

कारण तीन प्रकार के होते हैं—(१) समवायि (२) असमवायि और (३) निमित्त कारण।

(१) समवायि—जिसमें समवेत रहकर कार्य उत्पन्न होता है, उसे समवायि कारण कहते हैं जैसे तन्तु पट का और पट अपने रंग का अथवा अन्य गुणों का। "यत्समवेत कार्यमुत्पद्यते तत्समवायि कारणम्"।

(२) असमवायि—जो स्वयं समवायि न हो परन्तु जिसके कार्य अथवा कारण के साथ एक ही वस्तु में समवेत होने पर कार्य उत्पन्न होता हो, जैसे तन्तुओं का संयोग कपड़े का और तन्तुओं का रंग कपड़े के रंग का असमवायि कारण है। कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन्नर्थे समवेतत्वेसति कारणम् समवायि कारणम्" (तर्क संग्रह)।

(३) निमित्त—जो समवायि तथा असमवायि इन दोनों कारणों से भिन्न कारण हो उसे निमित्त कारण कहते हैं, जैसे वस्त्र के प्रति तुरी, वेमा, तन्तुवाय आदि।

कारण उसको कहते हैं जो किसी कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात् कारण अपने कार्य से पूर्ववती होता है। किन्तु केवल पूर्ववती होना ही कारण नहीं हो जाता है, क्योंकि माना कहीं ढोल की आवाज हुई और उसके पश्चात् पेड़ से एक आम का फल गिर पड़ा, यहां ऐसा नहीं कह सकते कि ढोल बजने से फल गिरा, ऐसा हो तो जब बजे ढोल तब तब फल गिरना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता है, यहां सम्बन्ध होते हुये भी नियत सम्बन्ध नहीं है। अतः कार्यकारण भाव भी नही माना जा सकता है। अर्थात् कार्य के साथ जिसकी नियत रूप से पूर्व वृत्ति हो वही कारण होता है। इतना कहने से भी काम नहीं चलता है, क्योंकि घट बनाने वाले का पिता भी नियत पूर्ववर्ती रहता है। किन्तु वह तो घट का कारण नहीं माना जाता है। अतः कारण होने के लिये एक और बात क आवश्यकता है, वह है, वह है 'अन्यथा सिद्ध'।

अन्यथा सिद्ध---

अन्यथा सिद्ध उसको कहते हैं, जिसका बनने वाले कार्य के साथ साक्षात सम्बन्ध न हो। जैसे घट निर्माण में दण्ड सहायक होता है किन्तु दण्ड का दण्डत्व तो सहायक नहीं होता है। इसी प्रकार आकाश, कुम्हार का पिता और मिट्टी लाने वाला गधा आदि घट के कारण नहीं हो सकते हैं। अतः कारण का लक्षण इस प्रकार होगा कि "अन्यथा सिद्धि रहितत्वेसति कार्य नियत पूर्व वर्तित्वं कारणत्वम्" (तर्कभाषा) अर्थात् कारणत्व के लिये इन तीन लक्षणों की आवश्यकता होती है—(१) पूर्ववर्तित्व (२) नियतत्व (३) अन्यथासिद्धत्व।

अन्यथासिद्ध न होते हुये जो नियत रूप से कार्य उत्पन्न होने से पूर्व उपस्थित रहता हो, वही कारण है।

एते पंचान्यथासिद्धा दण्डत्वादिक मादिकम् । घटादौदण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ।। तृतीयन्तु भवेद्व्यामे कुलालजनकोऽपर: ।। षञ्चमो रासभादिः स्यादेत्तेष्वावश्यकस्त्वसौ ।। (सिद्धान्त मु० २१-२२)

करण--

जिस साधन के द्वारा कारण से कार्य बनता है, वह साधन करण कहलाता है, जैसे प्रत्यक्ष करने में इन्द्रियाँ साधन है। घट निर्माण में कुम्हार का दण्ड साधन है, इसी प्रकार लकड़ी काटने में परशु (कुल्हाड़ी) साधन है, इन्हीं को करण कहते हैं।

अतः किसी कार्य को निष्पन्न करने के लिए सम्पूर्ण साधन सामग्री आवश्यक है, इसी को कारण सामग्री भी कहते हैं। क्योंकि इनमें से कोई एक भी न रहे तो कार्य नहीं बनता है, जैसे काटने वाला है, पर कुल्हाड़ी नहीं है अथवा कुल्हाड़ी है किन्तु पेड़ नहीं है, ऐसी स्थिति में कार्य नहीं हो सकता है।
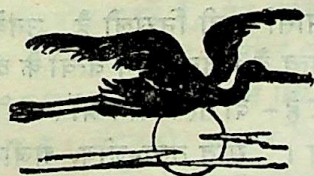
तत्व निरूपण

तनु विस्तारे धातु से तत्व सिद्ध हुआ है, अत: तत्व का अर्थ है कि सम्पूर्ण जगत् जिनके विस्तार से आवृत्त है उसके वास्तविक स्वरूप को तत्व समझना चाहिये। तत्व के सम्बन्ध में जैन, बौद्ध, जार्वाक, न्याय, मीमासाँ आदि विभिन्न दार्शनिकों में भिन्न-२ दृष्टिकोण हैं। श्रौत दर्शन आत्म तत्व तथा ब्रह्म तत्व इन दो तत्वों का प्रतिपादन करता है इस आत्म तत्व का कठोपनिषद् में नचिकेता यमराज के सम्वाद के रूप में वर्णन है। जिसमें नचिकेता ने आत्मा के विषय में यमराज से प्रश्न किया तो यमराज ने एक सुन्दर उदाहरण देकर आत्मा की नित्यता को दर्शाया है, जैसे –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीर रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रह मेव च।
इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयान् तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोवक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ।। कठोपनिषद् २-३-४ ।।

उपनिषद् कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्व सत्यभूत पदार्थ का विवेचन किया, वह ब्रह्म तत्व है। इसका विवेचन वेदान्त दर्शन ने विशिष्ठ प्रकार से किया है। गीता में प्रकृति, पुरुष और तीसरा सर्वव्यापक अमृत तत्व है, जिससे चराचर सृष्टि का उदय होता है।

चार्वाक तत्व मीमासाँ बड़ी निराली है, उनके मत में पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये ही चार जगत् तत्व हैं। जैन दर्शन वत्वों के दो, पाँच, सात और नौ भेद मानता है। वे इस प्रकार हैं– दो तत्व-जीव और अजीव पांच तत्व–जीव, अजीव, धर्म आकाश और पुदगल। सात तत्व–जीव, अजीव, आश्रम, बन्ध, शम्बर, निर्जर और मोक्ष नौ तत्व—उपरोक्त सात के अतिरिक्त पुण्य और अपुण्य है। मीमाँसक विश्व को सत्य मानते हैं, उनके मत में आत्मा अनेक हैं और वे स्वर्ग को भी मानते हैं।

इस पुस्तक में साँख्य और आयुर्वेद सम्मत तत्वों का वर्णन किया जायेगा क्योंकि आयुर्वेदीय पदार्थ वर्णन में साँख्य तत्व मीमाँसा स्वीकार की गई है जो सुन्दर तथा यक्तियुक्त प्रतीत होती है।

अव्यक्त

श्री शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में किया है, परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थ भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है। यही अविद्यात्मिका बीज शक्ति 'अव्यक्त' कहलाती है, यह परमेश्वर में आश्रित महासुप्तिरूपिणी है, जिसमें अपने स्वरूप को न जानने वाले संसारी जीव शयन करते हैं। "अविद्यात्मका हि बीजशक्तिरव्यक्त शब्दनिर्देश्या पमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः" (शारी, भाष्य)।

अग्नि को दाहिका शक्ति के समान ब्रह्म की यह शक्ति कभी ब्रह्म से पृथक नहीं रहती है। त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान विरोधी भाव रूप पदार्थ है, अर्थात् अभावात्मक नहीं है। शंकरार्य ने अव्यक्त स्वरूप वर्णन इस प्रकार किया है कि भगवान की शक्ति का नाम अव्यक्त है। जिसके आदि का कोई पता नहीं है वह त्रिगुणात्मक, अविद्या रूप है। उसका पता उसके कार्यों से चलता है तथा वही इस जगत की उत्पत्ति का कारण है।

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिकाया।
कार्यानुमेयासुधियैव माया पया जगत्सर्वमिद प्रसूयते ॥ विवेकचूड़ामणि।

इसे अव्यक्त इसी लिये कहा है कि यह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और सदसत् भी नहीं है, वह भिन्न है न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभयरूप है, न अंगयुक्त है न अंगरहित है और न उभयरूप है। वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीय वस्तु है। जिसका वर्णन सद्रूप और असद्रूप दोनों प्रकार से न किया जा कके, उसे अनिर्वचनीय कहते हैं, यह अद्वैत सिद्धान्त है। साँख्य द्वैत मत का प्रतिपादन करता है, उसके मत में सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति-पुरुष दो तत्व के संयोग हुई है। इस जगत् के सभी पदार्थ एवं शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सीमित होने से कार्य रूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी किसी मूलतत्व से हुई होगी, इस मूलतत्व का अन्वेषण और विवेचन करना दर्शकों का कार्य है।

बौद्ध, जैन, न्याय वैशेषिक और मीमाँसा इस मूल तत्व को 'परमाणु' कहते हैं। परन्तु साँख्य का मत है कि भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जाये परन्तु उससे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती है। अतः साँख्य स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार की तृष्टि का मूलकारण 'प्रकृति' मानता है।

प्रकृति की सिद्धि में प्रमाण---

(१) संसार के सभी पदार्थ सीमित और परतन्त्र है, अतः इनका मूल कारण अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिये।

(२) जगत् पदार्थों में तीन गुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ सुख, दुःख और मोह उत्पन्न करने वाला है। अतः एक मूल तत्व ऐसा अवश्य होना चाहिये जिसमें इन विशेषताओं का सद्भाव हो।

(३) कारण से कार्य की प्रवृत्ति देखने में आती है और वह कारण शक्ति सम्पन्न कार्य की अव्यक्तावस्था के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(४) आविर्भाव काल में करण से कार्य की उत्पत्ति होती है, विनाश काल में कार्य कारण में ही लीन हो जाता है। अतः निश्चित है कि सृष्टिकाल में सम्पूर्ण पदार्थ जिससे प्रकट होते हैं विनाशकाल में उसी में लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक मूल कारण को मानना उपरोक्त युक्तियों के आधार पर नितान्त युक्तियुक्त है। इसी को अव्यक्त रूप होने से 'अव्यक्त', प्रधान कारण होने से 'प्रधान' और सबको जननि होने से 'प्रकृति' कहते हैं।

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्वरजतमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भव हेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूना क्षेत्रज्ञानामधिष्ठान समुद्रइवौदकार्ना भावानाम् (सुश्रुत शा० २)।

अर्थात् समस्त भूतों का आदि कारण, परन्तु स्वयं कारण रहित, सत्व, रज और तम इन तीन लक्षणों से युक्त, आठ प्रकार के रूपों वाला, सम्पूर्ण जगत की उत्पत्ति कारण 'अव्यक्त' है। जिस प्रकार समुद्र अनेक (मछली, कछुआ आदि) जल जीवों का अधिष्ठान होता है उसी प्रकार वह अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान है। प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के कारण संसार की प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न है।

आयुर्वेद के प्रधान ग्रन्थ चरक संहिता में प्रकृति और पुरुष दोनों को मिलाकर अव्यक्त तत्व की कल्पना की गई है। यह कल्पना सृष्टि के विकाश को दृष्टिगत रखते हुये की गई होगी क्योंकि उनके अनुसार केवल जड़ात्मिका प्रकृति जगत् की सृष्टि नहीं कर सकती है।

प्रकृति पुरुष संयोग क्यों होता है–

जब तक चैतन्य स्वरूप पुरुष प्रकृति के साथ नहीं मिलता है, तब तक प्रकृति से महदादि तत्व उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रकृति सृष्टि की उत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है, इसके लिये साँख्यकार क्षरादि का दृष्टान्त देते हैं।

(१) जैसे दूध स्वयं अचेतन है, किन्तु बच्चे के पैदा होते ही उसकी वृद्धि-पोषण के लिये उसकी प्रवृत्ति स्वत: हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति जड़ होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिये पुरुष के संयोग में आती है।

(२) जैसे जगत् की वृद्धि के लिये काल का वर्षा, शीत, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का चक्र स्वयं चालू रहता है, वैसे ही पुरुष के कैवल्यार्थ प्रकृति का सृष्टि चक्र जारी रहता है।

(३) जैसे इच्छित अर्थ की प्राप्ति के लिये मनुष्य अनेक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिये प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि रचना में प्रवृत्त होती है।

(४) जिस प्रकार दर्शकों के मनोरञ्जन के लिये नर्तकी नृत्य, गीत हावभाव आदि में प्रवृत्त होती है, उसी प्रकार प्रकृति पुरुष मोक्ष के लिये उसे अपनी ओर आकर्षित करती है।

इस प्रकार सचेतन पुरुष के साथ संयोग होने पर जड़ात्मिका प्रकृति सृष्टि कार्य प्रारम्भ करती है. उसी प्रकार नाचने वाली अनेक प्रकार के नाच और हावभावों द्वारा दर्शकों का मनोरञ्जन कर उनका मन अपनी ओर आकर्षित करती है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष को नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा मनोरञ्जन कर उसे अपनी ओर आकर्षित करती है। इन विविध मनोरञ्जक पदार्थों से पुरुष को आनन्द का अनुभव होता है और इनके न मिलने पर वह दु:खी हो जाता है तथा इस प्रकार अंहकार विमूढ़ होकर पुरुष सृष्टि का कर्तव्य अपने में ही मानता है। जब तक पुरुष अहंकार विमूढ़ रहता है, तब तक उसे मुक्ति नहीं मिलती है। जब पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि वह तो स्वयं त्रिगुणातीत है और अकर्त्ता हैं। त्रिगुणात्मिका एवं कर्त्री तो प्रकृति है। इस प्रकार पुरुष प्रकृति से अपने को पृथक् समझने लगता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष का संग छोड़ देती है, तब पुरुष को कैवल्य प्राप्त होता है।

जिस प्रकार प्रकृति जड़ होने से स्वयं सृष्टि रचना नहीं कर सकती है, उसी प्रकार पुरुष भी चेतन होने पर भी निष्क्रिय होने से स्वयं सृष्टि कार्य नहीं कर सकता है, इसी लिये दोनों का संयोग होता है। इसके लिये एक मनोरञ्जक उदाहरण साँख्यकारों ने दिया है कि जैसे पङ्गु और अन्धा स्वतन्त्र रूप से अपने गन्तव्य स्थान पर जाने में असमर्थ होते हैं, उसी प्रकार पुरुष (पङ्गु) और प्रकृति (अन्धी) दोनों भी स्वतन्त्र रूप से अपना लक्ष्य पूर्ण नहीं कर सकते हैं। जब प्रकृति जो कि अन्धी है किन्तु कार्य करने में समर्थ हैं, अर्थात् चल सकती है, वह पुरुष जो पङ्गु है किन्तु चेतन होने से मार्ग दिखा

सकता है को अपने कन्धे में बिठाकर सृष्टिरूपी लक्ष्य को पूर्ण करते हैं।

अव्यक्त से सृष्टि का विकास—

"प्रकरोमि-इति प्रकृतिः" "तत्वान्तरोपादनत्व प्रकृतित्वम्" अर्थात् जो अन्ध तत्वों को पैदा करती है वह प्रकृति कहलाती है। इसी वाचक मात्र साधारण अर्थ से आगे अव्यक्त के लिये प्रकृति शब्द का ही प्रयोग होता है। अव्यक्त सत्य, रज, तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था है। "सत्वरजतम-साँसाम्यावस्था प्रकृतिः" अतः इस अर्थ का विकास रूप में प्रयोग नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि अव्यक्त त्रिगुणासाम्यावस्था है और जब विषमावस्था होती है तब कर्तृत्य पैदा होता है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृति में जब तीनों विषम गुणों में संघर्ष होता है तो उससे महान् उत्पन्न होता है, जो त्रिगुणात्मक ही होती है। पुनः त्रिगुणात्मक महान् से अहंकार उत्पन्न होता है।

यह अहंकार स्पष्ट रूप में तीन प्रकार का होता है—(१) सात्विक (२) राजस् (३) तामस्। इन्हीं को क्रमशः वैकारिक, तैजस और भूतादि कहते हैं। अब वैकारिक अहंकार से तैजस को सहायता द्वारा उन्हीं लक्षणों वाली ११ इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं।

जैसे—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, उपस्थ, पायु, पाद और मन। इनमें प्रथम पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, अन्य पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक उभयात्मक मन है। इस प्रकार भूतादि अहंकार से तैजस की सहायता द्वारा पांच तन्मात्राएं उत्पन्न होती है।

जैसे—(१) शब्दतन्मात्रा (२) स्पर्शतन्मात्रा (३) रूपतन्मात्रा (४) रसतन्मात्रा और (५) गन्धतन्मात्रा। इनके ही विशेष शब्द, स्पर्श, रूप, रस ओर गन्ध हैं। इन तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जो आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी है।
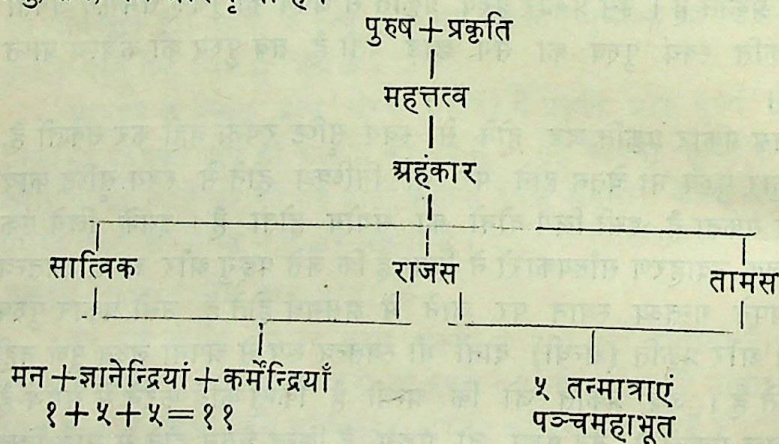
चरक मत से सृष्टि क्रम—

उपरोक्त चेतन, आत्मा, पुरुष, ज्ञः और क्षेत्रज्ञ कहलाता है। शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता होने से क्षेत्रज्ञ कहलाता है। २४ तत्वयुक्त शरीर क्षेत्र है, इन २४ तत्वों के बने शरीर के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है अतः पुरुष को क्षेत्रज्ञ कहते हैं इदं शरीरं कौन्तय क्षेत्रमित्यभिधीयते (भ० गीता)।

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकार तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडशः ॥
बुद्धीन्द्रियाणिपञ्चैव पंच कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पंचार्थाः विकारा इति संज्ञिता ॥
इति क्षेत्र समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्त वर्जितम् ॥ चरक शा० ॥

अष्टप्रकृति —(१) अव्यक्त (२) महान् (३) अहंकार और पाँच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धतन्मात्रा) यह आठ प्रकृति कहलाते हैं।

षोडश विकार=पाँच ज्ञानेन्द्रियां। चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना और जिह्वा) पाँच कर्मेन्द्रियां (हस्त, पाद, गुदा, उपस्थ और वाणी) तथा मन यह ११ इन्द्रियाँ एवं पचमहाभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश। इस प्रकार यह सोलह विकार कहलाते हैं।

आयुर्वेद में सृष्टिक्रम कुछ अन्तर से वर्णित है, उनके अनुसार अव्यक्त अर्थात् 'त्रिगुणासाम्यावस्था' जब पुरुष के सम्पर्क में आता है तो तत्काल अव्यक्त अपनी त्रिगुणसाम्यावस्था तथा अव्यक्तावस्था को छोड़कर व्यक्त और त्रिगुण वैशम्यावस्था में आ जाता है और तब तत्व परम्परा का प्रारम्भ हो जाता है। इस परम्परा में प्रथम तत्व महत् है जिसे बुद्धि सत्व भी कहते हैं। द्वितीय तत्व अहंकार है, अहं भावना ही अहंकार है अभिमान इसी से होता है। "अहंकार विमूढ़ात्माकर्ताऽहमितिमन्यते" (भगवद् गीता) अब अहंकार से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद के मत से इन्द्रियाँ भौतिक हैं इसी लिये इन्द्रियों की उत्पत्ति महाभूतों से मानी गई, अहंकार से नहीं। इस प्रकार यह सर्वाङ्ग सम्पूर्ण व्यक्त पुरुष होता है।

इस प्रकार वह पुरुष (चतुर्विशतितत्वात्मक) पुनः प्रलयकाल में शरीरारम्भक भूतों के कारणों में लीन होने से बुद्धि आदि इष्ट भावों से भी वियुक्त हो जाता है। इसी को मरण कहते हैं और कारण से अभिव्यक्त होने का नाम जन्म है। यह जन्म मरण अथवा व्यक्ताव्यक्त प्रवाह बन्धकाल तक चक्रवत् चलता रहता है।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाहमिति मन्यते ।
परंखादीन्यहंकार उपादत्ते यथाक्रमम् ।।
ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ।।
अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततांपुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते । चरक शा० १-६५-६७ ।

सांख्य सम्मत तत्वों का वर्गीकरण–

सांख्य मतानुसार २५ तत्व हैं, जिनको जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष चाहे वह सन्यासी हो, गृहस्थी हो या ब्रह्मचारी हो, दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।

पंचविंशति तत्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे वसन् ।
जटी मुण्डी शिखी वाऽपि मुच्यतेनात्र संशयः । सं० सि० सं० ९-११ ।

इन पच्चीस तत्वों का वर्गीकरण अधोलिखित चार प्रकार से किया गया है—

(१) कोई तत्व ऐसा है जो सबका कारण होता है किन्तु स्वयं किसी का कार्य नहीं होता है । अर्थात् सबको उत्पन्न करता है, स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होता है जैसे–'प्रकृति' ।

(२) कुछ तत्व ऐसे हैं जो दूसरों से उत्पन्न होते हैं परन्तु स्वयं किसी को पैदा नहीं करते हैं । अर्थात् कार्य तो हैं, कारण नहीं होते हैं, जैसे—'विकृति' ।

(३) कुछ तत्व कार्य और कारण दोनों होते हैं, अर्थात् दूसरे तत्वों को उत्पन्न करते हैं और स्वयं भी किसी से उत्पन्न होते हैं, जैसे—'प्रकृति विकृति' ।

(४) कोई तत्व न कार्य है और न कारण है, उभयशून्य होता है, जैसे—न प्रकृति न विकृति=पुरुष ।

मूलप्रकृतिरविकृति महदाद्या प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः ।। साँख्य का० ३ ।।

प्रकृति पुरुष का साधर्म्य–

"समानोधर्मः साधर्म्यम्" अर्थात एक ही प्रकार का धर्म साधर्म्य कहलाता है । प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं, चरक में स्पष्ट लिखा है कि आत्मा अनादि है इसमें कोई सन्देह नहीं है और क्षेत्र परम्परा भी अनादि है । अतः दोनों के अनादि होने से कौन पहले हुआ, ऐसा कहना उचित नहीं है ।

दोनों अनन्त हैं, दोनों ही अलिङ्ग हैं, दोनों नित्य, दोनों अपर और दोनों सर्वव्यापी हैं।

वैधर्म्य---

"विरुद्धधर्मो वैधर्म्यम्" अर्थात् विषमता। प्रकृति एक है, अचेतन है। त्रिगुणात्मक, बीजधर्मी, प्रसवधर्मी और असध्यस्थधर्मी है। पुरुष अनेक, अचेतन निर्गुण बीज धर्म रहित, प्रसव धर्म रहित और मध्यस्थधर्मी होते हैं।

प्रकृति	पुरुष
(१) एक है।	(१) अनेक हैं।
(२) अचेतन है।	(२) चेतनायुक्त है।
(३) त्रिगुणात्मिका है।	(३) निर्गुण है।
(४) बीजधर्मा है।	(४) अबीज धर्मी है।
(५) प्रसवधर्मा है।	(५) अप्रसव धर्मी है।
(६) अमध्यस्थधर्मा है।	(६) मध्यस्थ धर्मी है।

प्रकृति में सत्व, रज, तम तीन गुण होते हैं, अतः त्रिगुणात्मिका है। क्योंकि बीज में अपना सम्पूर्ण वृक्ष अव्यक्त रूप में उपस्थित रहता है, अनुकूल वातावरण मिलने पर वह प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृति में सम्पूर्ण सृष्टि अव्यक्त रूप में रहती है और विकासकाल में स्पष्ट हो जाती हैं, इसी लिये प्रकृति बीजधर्मा है। इसी प्रकार महदादि २३ तत्वों को पैदा करती है इसीलिये प्रसवधर्मा कहलाती हैं। अर्थात् सृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें हो प्रसवधर्मा है।

सुख दुःखादि धर्मों से जो विचलित न हो वह मध्यस्थ अर्थात् निर्विकार या निलिप्त आत्मा है। प्रकृति सुख दुःखादि द्वन्दों से विचलित होती है अर्थात् यह प्रकृति के धर्म हैं, अतः अमध्यस्थ धर्मा है।

व्यक्त और अव्यक्त में अन्तर---

हेतुयुक्त, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेकाश्रित, लिङ्गवाला, अवयवयुक्त और परतन्त्र तत्व को व्यक्त कहते हैं। इसके ठीक विपरीत हेतुरहित, नित्य व्यापी, निष्क्रिय, एक, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र पदार्थ को अव्यक्त कहते है।

हेतुमदनित्यम व्यापी सक्रिय मनेकाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्र व्यक्त विपरीत मव्यक्तम्॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधान तदविपरीतास्तथा च पूमान् । साँ०का० १०-११ ।

इस कारिका में हेतुमत् व्यक्त का प्रथम लक्षण दिया है, अर्थात् जो कारणों वाला है या जो कारणों से उत्पन्न होता है । साँख्य के पच्चीस तत्वों में महत्तव से लेकर भूतों तक तेईस तत्व कारण वाले हैं । अर्थात् विकार है, अतः यह व्यक्त है, जो अस्थायी हो उसे अनित्य कहते हैं । यह विनाशशाली होता है, इसका आदि है, अतः अन्त भी होगा । अव्यापि उसे कहते हैं जो सर्वत्र व्यापक न हो और सक्रिय अर्थात् क्रिया वाला हो । अनेकाश्रित=अनेक व्यक्तियों तथा विषयों में रहने वाला हो, लिङ्ग अर्थात् लक्षणों से युक्त, अवयवों वाला और परतन्त्र यानी दूसरों के आधीन रहता है । २३ तत्व अनित्य हैं, क्योंकि अपने से पूर्व-पूर्व कारणों से अभिव्यक्त होते हैं तथा कारणों में लीन भी होते हैं इसीलिये विनाशशील हैं । यह तेईस तत्व सक्रिय भी हैं, क्योंकि जगत के साथ २ सदा परिवर्तित होते रहते हैं । यह तेईस हैं, अतः अनेक हैं, क्योंकि प्रलय काल में यह अपने २ कारणों में लीन हो जाते हैं, इसी लिये लिङ्ग वाले हैं, इनके ठीक विपरीत अव्यक्त होता है जो किसी से उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु सबकी उत्पत्ति में स्वयं कारण है । यह उत्पत्ति विनाश रहित अनादि और अनन्त है, अतः नित्य है । सर्वगत एवं विभु होने से व्यापक है ।

साँख्य के समक्ष अनुभव के कर्त्तव्य को लेकर एक महत्वपूर्ण समस्या है । पदार्थों का जो अनुभव होता है उसका कर्तृत्व किसमें रहता है । यदि कहें कि पुरुष में रहता है तो प्रकृति से उत्पन्न भौतिक पदार्थ वाह्य होने के कारण उनकी अनुभव कर्तृता सिद्ध नहीं होगीं । महतत्व अर्थात् बुद्धि में उसकी सत्ता मानना उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि धुद्धि जड़ है । उसमें ज्ञान का उदय कैसे हो सकता है, इसीलिये न तो पुरुष में ही, न केवल बुद्धि में हो अनुभव की उपलब्धि होती है, अपितु दोनों के सम्मिलित होने पर ही अनुभव हो सकता है । जब इन्द्रियाँ वाह्य विषयों का ग्रहण करके बुद्धि के पास ले जाती है तो बुद्धि उन विषयों का ही आकार ग्रहण कर लेती है । बुद्धि में न वाह्य विषयों का आरोप होता है और न वे उसमें जाते हैं । अपितु बुद्धि स्वयं पदार्थों का संसर्ग होने पर उन्ही के आकार वाली हो जाती है । इस प्रकार आकार को ग्रहण करने से जो बुद्धि परिणाम निकलता है उसको वृत्ति कहते हैं ।

किन्तु अब भी अनुभव का उदय नहीं होता है, जब बुद्धि में चैतन्य स्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्व पड़ता है तब अनुभव होता है । अतः बुद्धि में

प्रतिविम्बित आत्मा का पदार्थों से सम्पर्क होना ही ज्ञान कहलाता है। बुद्धि तत्व प्रकृतिजन्य होने से अचेतन है और उसमें पदार्थों की उपस्थिति में जो अध्यवसाय अथवा सुखादि उत्पन्न होते हैं, वह भी अचेतन हैं, चेतन पुरुष असंग होने से सुख दुःखादि से नितान्त असम्पृक्त है। अतः बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ने से दोनों का कार्य सम्पादन होता है।

उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौसत्यां तमोऽभिभवेसति यः सत्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमितिचाख्यायते (तर्क कौं० ५)।

इसी बुद्धिच्छायापत्ति से चेतन अपने को सुख दुःखादि ज्ञानयुत्त समझने लगता है और चेतन के संसर्ग से अचेतन बुद्धि अपने को चेतनायुक्त समझती है। अतः उसका अध्यवसाय जो अचेतन है, चैतन्य के समान हो जाता है। पुरुष स्वभावतः असंग और निर्गुण है, परन्तु बुद्धि प्रतिबिम्ब होने पर उसे भोक्ता या ज्ञाता कह सकते हैं।

बुद्धावारोपित चैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धश्च चेतनोऽहम् करोमीत्युपलब्धिः (केसुमाञ्जली टीका)

सर्वप्रथम पदार्थों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है, जिससे ज्ञानेन्द्रियों में तत्तद् विषय का परिचय मात्र होता है। यह ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति समाप्त कर उन्हें मन के पास दे देती है। मन उन विषयों के सम्बन्ध में सम्यग् कल्पना कहता है कि ऐसा नहीं, ऐसा है। इसी कल्पना के कारण साँख्य मन को संकल्पनात्मक कहते हैं।

मन के द्वारा समर्पित पदार्थ पर अहंकार का कार्य प्रारम्भ होता है, कि यह पदार्थ मेरे लिए हैं, अन्य किसी के लिये नहीं है। तत्पश्चात् निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति प्रारम्भ होती है अर्थात बुद्धि का कार्य पदार्थों के विषय में निश्चय करने का है। तब इसी बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का आरोप होने पर उस अवस्था का उदय होता है, जिसको हम ज्ञान कहते हैं।

विषयों के प्रति ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणों (मन, अहंकार, बुद्धि) का व्यापार कभी एक साथ होता है और कभी क्रमशः होता है। घुमावदार सड़क पर तत्काल मोटर को सामने आते देख मनुष्य भाग खड़ा होता है अथवा अन्धेरी रात में बिजली की चमक से व्याघ्र को सामने देखकर भी मनुष्य अपने बचाव के लिए सहसा भाग जाता है। इस समय उसके कार्य में सभी कारणों का व्यापार अत्यन्त शीघ्रता से एक साथ होता है।

परन्तु दूसरी ओर रात में वृक्ष के नीचे खड़े व्यक्ति को देख उसे चोर

समझकर भागने का निश्चय क्रमशः करणों के व्यापार से होता है। जैसे चक्षु से व्यक्ति का अवलोकन, मन के द्वारा उसके सम्बन्ध में संकल्प, अहंकार द्वारा पृथक्करण और बुद्धि द्वारा यह निश्चय कि यह व्यक्ति चोर ही है और उस चोर से बचने के लिये भागने की सलाह यह व्यापार क्रमशः होते है।

चरक संहिता का यह श्लोक इसी बात का पोषण करता है -

इन्द्रियेणिन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसातूद्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा।।
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्यात्मिका।
व्यवस्यतितया वक्तु कर्तु वा बुद्धिपूर्वकम् ।। चरक

सत्कर्यवाद या कार्यकारणवाद

इस सम्बन्ध में साँख्य सिद्धान्त विशेष रूप से युक्तियुक्त माना जाता है, उनका कथन है कि कार्य से पूर्व कारण में कार्य अव्यक्त रूप में अवश्य विद्यमान रहता है। इसी लिये कार्य तथा करण में कोई भेद नहीं है। कार्य की अव्यक्त अवस्था का नाम कारण और कारण की व्यक्त अवस्था कार्य है। इस प्रकार कार्य और कारण का भेद केवल व्यवहारिक है, परन्तु अभेद तात्विक है। इस सिधान्त को सत्कार्यवाद, परिणामवाद या कार्यकारणवाद कहते हैं।

इसकी पुष्टि में साँख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं—

असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्चसत्कार्यम् ।। सा० का० ।।

(१) असत्करणात्—जो सत् नहीं, उसे असत् कहते हैं, असत् को उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। जैसे बालू में तेल नहीं निकल सकता है, क्योंकि बालू में तेल पहले से विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार अव्यक्त से जो व्यक्त अर्थात् महादादि तत्व उत्पन्न होते हैं। यह पहले से ही अव्यक्त में विद्यमान थे, इसी लिये कार्य भी सत् है। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि हजारों शिल्पियों के उद्योग करने पर भी नील रंग की वस्तु पीत रंग की नहीं हो सकती है।

(२) उपादानग्रहणात्– लोक में भी देखा जाता है कि जिस व्यक्ति को जिस कार्य की आवश्यकता होती है वह उसी के कारण को ग्रहण करता है, जैसे दही चाहने वाला दूध ही ग्रहण करता है, जल को नहीं। तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जाता है।

(३) सर्वसम्भवाभवात्—सब कारणों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जैसे सुवर्ण की उत्पत्ति चाँदी में, तृण में या धूलादि में नहीं होती है। यह भी कार्य कारण के सम्बन्ध का द्योतक है।

(४) शक्तस्यशक्यकरणात्—जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखता है उसी कारण से वही कार्य उत्पन्न हो सकता है। जैसे कुम्हार मिट्टी, दण्ड, चक्र, रस्सी आदि द्वारा घड़ा बनाने में समर्थ है और उन सहायक कारणों द्वारा वह मिट्टी से घड़ा ही बना सकता है। इसमें भी सिद्ध होता है कि कार्य सत् है।

(५) कारणभावात्—कारण जिस प्रकार का होगा, कार्य भी वैसा ही होगा, जैसे गेहूँ बोने से गेहूँ पैदा होता है और धान से धान ही, यदि कार्य सत् न होता तो धान से गेहूं हो जाता पर ऐसा नहीं होता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कार्य उत्पन्न होने से पहले भी कारण में उसकी सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश कर्तृ व्यापार से वस्तु का आविर्भाव मात्र होता है। अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप धारण करती है तो उत्पत्ति और व्यापार के विराम होने पर वस्तु अव्यक्तावस्था में पहुंच जाती है। इसी को विनाश कहते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ भ० गी० ॥
अव्यक्तद् व्यक्तय सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमें प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्त संज्ञके ॥ भ० गी० ८-१८ ॥

सत्कार्यवाद के समर्थन में वाचस्पति मिश्र ने व्याख्या इस प्रकार की है, यथा—एक वस्तु उत्पत्ति और विनाश क्रिया की बुद्धि का व्यपदेश होने से जैसे यह तन्तु है, यह पट है। इस प्रकार तन्तु में पट बुद्धि के व्यपदेश का सामर्थ्य होने से एकान्तिक भेद की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि एक ही द्रव्य में उनकी विशेष अवस्था में आविर्भाव एवं तिरोभाव होने से उनमें वास्तव में अभेद है। जिस प्रकार कछुवे का अंग कछुवे के शरीर में ही निवेश होने से छिप जाता है और पुनः बाहर निकलने से उसका अविर्भाव दिखाई देता है। कछुआ उन अङ्गों को उत्पन्न या विध्वंस नहीं करता है उसी प्रकार मिट्टी से घड़ा और सुवर्ण से मुकुट का अविर्भाव उसकी उत्पत्ति का बोधक होता है और उनका निवेश अर्थात् घड़े का मिट्टी बन जाना, मुकुट का स्वर्ण बन जाना उनका विध्वंस कहलाता है। इन अवस्थाओं से असत की उत्पत्ति और सत् का विनाश नहीं होता है।

क्योंकि जिस प्रकार कछुवे के अंग कछुवे से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार मुकुट आदि भी स्वर्ण से भिन्न नहीं होते हैं।

परमाणुवाद

संसार में जितनी वस्तुओं को हम देखते हैं सब सावयव हैं अर्थात वे भिन्न २ अवयवों के संयोग से बनी है घड़ा क्या है ? मिट्टी के कणों का समुदाय विशेष है। इसी प्रकार जितनी चीजें देखने में आती हैं वे सभी अवयव वाली होती है और उनके अवयव पृथक् किये जा सकते हैं। इन अवयवों का छिन्न-भिन्न होना विनाश कहलाता है। घड़े फोड़कर टुकड़े कर दिये जायें, इन टुकड़ों में भी अवयव होंगे, अत: उनका भी विभाजन हो सकता है। इस प्रकार उन टुकड़ों से टुकड़े फिर उनके भी टुकड़े करते चले जायें तो अन्ततोगत्वा ये टुकड़े इतने महीन हो जायेंगे कि हम इन्हें दो भागों में विभाजित नहीं कर सकते हैं। जैसे धूलि का एक कण इतना महीन होता है कि हम उसे तोड़ नहीं सकते हैं, परन्तु यदि कोई सूक्ष्म धार वाला औजार बन सके तो बाल को भी चीरा जा सकता है।

इसी प्रकार धूल के कण के भी विभाग किये जाने सम्भव हैं, अब प्रश्न यह है कि विभाजन परम्परा कहाँ तक जायेगी। यदि कल्पना के सहारे विभाजन करते जायें तो अनन्त की ओर बढ़ते ही जायेंगे और इस प्रक्रिया की कहीं समाप्ति नहीं होगी। इसे अनवस्था दोष कहते हैं, इस अनवस्था में राई और पर्वत दोनों को तुल्य मानना पड़ेगा। फिर इनमें भेद कैसे किया जा सकेगा। बिना ईकाई (Unit) के परिमाण या संख्या का निर्धारण नही हो सकता है और ईकाई अनवस्था में मिल नहीं सकती है। इसी लिये विभाजन में कहीं न कहीं विराम अवश्य मानना पड़ेगा, जहाँ यह विराम होगा वहीं परमाणु कहलायेगा।

अन्य दार्शनिकों के समान वैशेषिकों ने भी जगत के उपादान के विषय में विशेष रूप से विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धान्तानुयायी दार्शनिकों ने परमाणु को ही जगत का उपदान बतलाया है। परन्तु परमाणु के साथ जगत का सम्बन्ध केवल अभिन्न प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता है, अपितु दार्शनिकों में इस विषय पर मतभेद है।

बौद्ध मतानुसार यह जड़ प्रपञ्च कर्म नियमित क्षणिक तथा परमाणु पुञ्ज रूप परमाणु से सर्वथा अभिन्न है। जैनियों के मत में यह जगत कर्म नियमित स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम है। अर्थात् वह

किसी अंश में ... य वैशेषिक
के सिद्धान्तानुस ... भी कर्म
नियमित न हो ...

इस प्रका ... नित्य द्रव्य
को परमाणु क ... वायवीय
भेद से चार प्रक ...

प्रशस्तपाद ... क्रम इस
प्रकार है कि अ ... उत्पत्ति
होती है। जो अ ... । तीन
द्वणुकों के संयो ... स्तव में
परमाणु नित्य है, ... होने से
अनित्य है। तीन ... त् परि-
माण वाला होता ... परमाणु
और द्वचणुक अर्त ... से तथा
कार्य द्रव्य होने से ... किरणें
अन्दर प्रवेश करत ... नजर
आते हैं वे त्रसरेणु ...

वैशेषिक मत ... न्द रूप
से निवास करते हैं, इनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है। इस सम्बन्ध में दार्शनिक कल्पना बड़ी विचित्र है। अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के अन्दर रस का नीचे से ऊपर को चढ़ना, मन और परमाणुओं की आद्य स्पन्दानात्मक क्रिया आदि अदृष्ट जन्य बताई गई हैं।

परमाणु अनेक हैं यदि एक ही परमाणु पृथ्वी आदि कार्यों का आरंभक होता तो उसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति होती रहती तथा कार्य का विनाश भी कभी नहीं होता, क्योंकि कार्य का विनाश दो कारणों से होता है—(१) अवयव विभाग और (२) अवयव नाश। अतः एक होने से विभाग नहीं हो सकता है तथा नित्य होने से विनाश सम्भव नहीं।

यद्यपि आवान्तर भेद से परमाणु अनेक हैं, फिर भी सत्व, रज और तम भेद से मुख्य तीन प्रकार के होते है। इन्हें सांख्य, योग और वेदान्त त्रिगुण

...न्न नहीं हैं, उसी प्रकार
...ब सावयव हैं- अर्थात
...है ? मिट्टी के कणों का
...ाती हैं वे सभी अवयव
...ते हैं । इन अवयवों का
...र टुकड़े कर दिये जायें,
...जन हो सकता है । इस
...चले जायें तो अन्ततो-
...ागों में विभाजित नहीं
...ता है कि हम उसे तोड़
...बन सके तो बाल को
...ने सम्भव हैं, अब प्रश्न
...दि कल्पना के सहारे
...। और इस प्रक्रिया की
...इस अनवस्था में राई
...में भेद कैसे किया जा
...ख्या का निर्धारण नहीं
...सकती है । इसी लिये
...जहाँ यह विराम होगा
वहाँ परमाणु कहलायेगा ।

अन्य दार्शनिकों के समान वैशेषिकों ने भी जगत के उपादान के विषय में विशेष रूप से विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धान्तानुयायी दार्शनिकों ने परमाणु को ही जगत का उपदान बतलाया है। परन्तु परमाणु के साथ जगत का सम्बन्ध केवल अभिन्न प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता है, अपितु दार्शनिकों में इस विषय पर मतभेद है।

बौद्ध मतानुसार यह जड़ प्रपञ्च कर्म नियमित क्षणिक तथा परमाणु पुञ्ज रूप परमाणु से सर्वथा अभिन्न है। जैनियों के मत में यह जगत कर्म नियमित स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्‌गलों) का परिणाम है। अर्थात् वह

किसी अंश में भिन्न तथा किसी अंश में अभिन्न, भिन्नाभिन्न है। न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार यह जगत परमाणु का कार्य (भिन्न) होते हुये भी कर्म नियमित न होकर कर्म की सहायता से ईश्वर नियमित है।

इस प्रकार सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव और नित्य द्रव्य को परमाणु कहते हैं। यह परमाणु पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय भेद से चार प्रकार के होते हैं।

जालान्तर गते भानो तत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्टतमों भागः परमाणु स उच्यते ॥

प्रशस्तपाद भाष्य के अनुसार परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति क्रम इस प्रकार है कि अणुपरिणाम विशिष्ट परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। जो अणपरमाणु विशिष्ठ होने से स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। तीन द्वणुकों के संयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। वास्तव में परमाणु नित्य है, द्वयणुक भी अणु परिणाम वाला है किन्तु कार्य होने से अनित्य है। तोन द्वणुकों से जिस त्र्यणुक की उत्पत्ति होतो है वह महत् परिमाण वाला होता है। इसीलिये उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। अतः परमाणु और द्वयणुक अतीन्द्रिय हैं। और त्रसरेण से आगे सब इंन्द्रिय गोचर होने से तथा कार्य द्रव्य होने से अनित्य है। कमरे के रोशनदान से प्राप्त जो सूर्य की किरणें अन्दर प्रवेश करती हैं तो उन किरणों के बीच जो धूल के कण घूमते नजर आते हैं वे त्रसरेणु हैं और इनका छठा भाग परमाणु कहलाता है।

वैशेषिक मतानुसार परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निष्पन्द रूप से निवास करते हैं, इनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है। इस सम्बन्ध में दार्शनिक कल्पना बड़ी विचित्र है। अयस्कान्त मणि की ओर सुई की स्वाभाविक गति, वृक्षों के अन्दर रस का नीचे से ऊपर को चढ़ना, मन और परमाणुओं की आद्य स्पन्दानात्मक क्रिया आदि अदृष्ट जन्य बताई गई हैं।

परमाणु अनेक हैं यदि एक ही परमाणु पृथ्वी आदि कार्यों का आरंभक होता तो उसके नित्य होने से निरन्तर कार्य की उत्पत्ति होती रहती तथा कार्य का विनाश भो कभी नहीं होता, क्योंकि कार्य का विनाश दो कारणों से होता है—(१) अवयव विभाग और (२) अवयव नाश। अतः एक होने से विभाग नहीं हो सकता है तथा नित्य होने से विनाश सम्भव नहीं।

यद्यपि आवान्तर भेद से परमाणु अनेक हैं, फिर भी सत्व, रज और तम भेद से मुख्य तीन प्रकार के होते है। इन्हें सांख्य, योग और वेदान्त त्रिगुण

कहते हैं और न्याय, वैशेषिक, मीमाँसा इसको परमाणु नाम पुकारते हैं। उपनिषदों में लोहित, शुक्ल, कृष्ण, प्रकाशक, क्रियाजनक और आवरक नाम दिया गया है। इस प्रकार एक ही उपादान कारण में नामों का भेद है परन्तु उपादान कारणता में कोई विवाद नहीं है।

वैशेषिकों की परमाणु कल्पना अपनी प्रतिभा जन्य सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक डिमाक्रिटस के परमाणुवाद में यह सिद्धान्त नितान्त भिन्न है। ग्रीक देशीय विवेचनानुसार परमाणु स्वयं गुण रहित होते हैं, परन्तु उनमें तौल, स्थान और क्रम का अन्तर होता है। किन्तु कणाद के अनुसार परमाणु में विशेष गुण होता है। डिमाक्रिटस तथा एपिकुरुस ने परमाणु को स्वतः गमनशील और आत्मा को भी उत्पन्न करने वाला बतलाया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए परस्पर संघर्ष से सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। वैशेषिक सिद्धान्त इससे नितान्त भिन्न है, इनके अनुसार परमाणु स्वभावतः निस्पन्द अवस्था में रहते हैं। उनमें स्पन्दन क्रिया अदृष्ट के सहयोग से ईश्वरेच्छा द्वारा होता है और वे पृथ्वी आदि चार भूतों की उत्पत्ति कर सकते है। आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य है तथा उनके समान ही साथ साथ २ स्थिति धारण करता है। दोनों का वास्तविक भेद यह है कि ग्रीक सिद्धान्त भौतिक वाद का समर्थक है, किन्तु भारतीय सिद्धान्त आध्यात्मवाद का समर्थक है।

स्वभावोपरमवाद

आयुर्वेद चिकित्सा की दृष्टि से स्वभावोपरमवाद विशेष महत्वपूर्ण है, सम्पूर्ण भावों का स्वभावतः विनाश होता है। इस विनाश का कोई कारण नहीं है, प्रवृत्ति का कारण होता है किन्तु विनाश स्वतः हो जाता है। जल की एक एक बूंद टपकने पर धीरे २ जल एकत्रित होकर नदी बन जाती है। इस प्रकार नदी बनने का कारण न भी हो और वह न बने, परन्तु उसके विनाश का कोई कारण नहीं होता तो क्या नदी नाश का कारण न होने से नदी का विनाश नहीं होगा, होगा अवश्य। इसीलिये यह मानना पड़ता है कि कार्य की उत्पत्ति में कारण होता है परन्तु विनाश स्वाभाविक है, यह रुक नहीं सकता है। क्योंकि उसका कारण होता तो दूर किया जा सकता था और इस प्रकार नाश रुक सकता था, परन्तु ऐसा नहीं है, यही स्वाभावोपरमवाद है अग्निवेश संहिता में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

जायन्ते हेतु वैषम्यात् विषमा देह धातवः।
हेतुसाम्यात् समास्तेषा स्वभावोपरमः सदा ॥

प्रवृत्ति हेतुर्भूतानाँ न निरोधेऽस्ति कारणम् ।
केचिदत्रापि मन्यन्ते हेतुंहेतो रवर्तनम् ॥ चरक शा० ॥

अर्थात् शरीर स्थित धातुएं प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त होती रहती हैं और आहार द्वारा नष्ट हुई धातुओं का निर्माण (वृद्धि) होता रहता है धातुओ की वृद्धि आहार द्वारा प्राप्त तत्वों के कारण होती है, परन्तु उनके विनाश का कोई कारण नहीं है। अर्थात् हेतु वैषम्य से धातु वैषम्य होता है और हेतु साम्य होने पर धातु साम्य हो जाता है। यह तो भावों की वृद्धि का कारण हुआ है किन्तु निरोध (विनाश) का कोई कारण नहीं होता है। इसको स्वभावोपरमवाद कहते हैं। कुछ लोगों का कथन है कि उत्पत्ति का हेतु न होना विनाश का कारण है।

न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च ।
हेतुभिः सदृशानित्यं जायन्ते देह धातवः ॥

अर्थात शरीर की धातएं सम हो तो स्वयं विषम नहीं होती हैं और विषम हों तो अकारण समान नहीं हो सकती हैं। यह क्रिया तो कारणों पर निर्भर है कि विषम कारणों से विषम और समकारणों से समान होती रहती है

न नाश काशणभावात् भावनाँ नाश कारणम् ।
ज्ञायते नित्यगस्येव कालस्यात्यय कारणम् ॥
शीघ्रगत्वात् स्वभावात्तु अभावो न व्यतिवर्तते ।।

अर्थात् जैसे नित्य शीघ्रगत्मी काल का नाश अज्ञात कारण से होता है उसी प्रकार भावों के विनाश का कारण भी अज्ञात है। काल निरन्तर गमन शील है. इसकी उपस्थिति में शरीर एवं संसार के सम्पूर्ण भाव भी गमनशील तथा परिवर्तनशील हैं। जो भाव नष्ट हो जाते हैं उनके स्थान पर नये उसी प्रकार के उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भाव उत्पन्न होते हैं और विनष्ट होते रहते हैं। इस विनाश को रोका नहीं जा सकता है तथा नष्ट हुये द्रव्य की दूसरे रूप में भी नहीं बदला जा सकता है।

त्रिगुण स्वरूप निरूपण

गुण—सत्व, रज, तम यह तीन त्रिगुण है इनका स्वरूप विवेचन साँख्य कारिका में इस प्रकार किया गया है—

प्रीत्यप्रीति-विषदात्मकाः प्रकाश प्रवृत्ति-नियमार्थाः ।
अन्योन्याऽभिभवाऽश्रय-जनन-मिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ सां० का० १२ ॥

अर्थात् सत्व, रज और तम क्रमशः प्रीत्यात्मक, अप्रीत्यात्मक और विषदात्मक होते हैं। इनमें सत्वगुण प्रीत्यात्मक होता है, यहाँ प्रीति का अर्थ है सुख या प्रसन्नता (तत्स्वरूप) रजोगुण अप्रीत्यात्मक होता है। अर्थात् दुःख स्वरूप है और तमोगुण विषदात्मक मोहात्मक है। इन सत्वादि गुणों में क्रम से सत्व प्रकाश के लिये है, अर्थात् वह विभिन्न कार्यों को करने की रूचि कराता है। रजोगुण प्रवृत्ति के लिये है यह विभिन्न कार्यों को करने का ज्ञान उत्पन्न करता है और तमोगुण नियमन करता है। नियमन का अर्थ है ज्ञान तथा रूचि इनका नियन्त्रण करना। तात्पर्य यह कि सत्व गुण से कार्यों का ज्ञान होता है, रजोगुण से कार्य करने की इच्छा होती है और तमोगुण से ज्ञान और प्रवृत्ति रुक जाती है।

यह गुण परस्पर एक दूसरे को अभिभूत करते हैं अर्थात् दबा देते हैं। यह प्रीति, अप्रीति और विषाद गुणों से प्रकट होते हैं। जब सत्व उत्कट होता है तो रजोगुण और तमोगुण को दबाकर अपने प्रीति तथा प्रकाश धर्म को प्रकट करता है। जब रजोगुण उत्कट होता है तो वह सत्व और तम को दबा कर अप्रीति और प्रवृत्ति धर्मों को प्रकट करता है। अर्थात् रजोगुण की अधिकता से विभिन्न कार्यों को करने की प्रवृत्ति तथा दुःख होता है। जब तमोगुण उत्कट होता है तब वह सत्व और रजोगुण को दबाकर विषाद और मोह उत्पन्न करता है। अर्थात् तमोगुण की वृद्धि होने से मोह हो जाता है और कार्यों का ज्ञान तथा कार्य करने की प्रवृत्ति दोनों रुक जाती हैं। यह गुण द्वयणुक की भाँति एक दूसरे में आश्रित रहते हैं।

रजसो मिथुन सत्वं, सत्वस्य मिथुनं रजः।
उभयोः सत्वरजसोः मिथुनं तम उच्यते ॥ सा० का० ॥

सत्वगुण प्रवृत्ति और नियम के आश्रय से प्रकाश करता है, रजोगुण प्रकाश और नियम के आश्रय से प्रवृत्त कराता है तथा तमोगुण प्रकाश और प्रवृत्ति के आश्रय से रोकता है। यह गुण एक दूसरे को उत्पन्न करने वाले भी है यहाँ जनन का तात्पर्य सदृश रूप परिणाम है आरम्भ रूप नहीं है, अतः जिस प्रकार मिट्टी के पिण्ड से घट बनता है उसी प्रकार यह एक दूसरे को प्रकट करते हैं।

यह गुण अन्योग्य मिथुन अर्थात् एक दूसरे के साथ रहते हैं, अर्थात् जिस प्रकार स्त्री पुरुष एक दूसरे के सहायक होकर रहते हैं तभी संसार का कार्य चलता है। उसी प्रकार यह गुण भी जब एक दूसरे के सहायक होकर साथ २ रहते हैं, तब सृष्टि का कार्य चलता है। यह परस्पर एक दूसरे के

सहायक है। इसके अतिरिक्त यह गुण एक दूसरे में रहने वाले भी हैं। जैसे एक सुन्दर सुशीला स्त्री अपने सौन्दर्य से सबको आनन्दित करती है किन्तु वही अपनी सोतों के लिये दु:खदायिनी हो जाती है तथा उन व्यक्तियों के लिये जो उसे चाहते हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर सकते हैं, वह मोह उत्पन्न करने वाली होती है।

आनन्दित करना सत्व का धर्म, दु:ख देना रज का धर्म और मोह पैदा करना तम का धर्म है। यह तीनों उन सुन्दरी में रहते हैं, किन्तु सत्व की अधिकता से अधिक व्यक्ति उससे आकर्षित होते हैं।

जैसे प्रजापालक राजा दुष्टों का निग्रह करके सज्जनों को सुखी करता है। वही उन दुष्टों के लिये दु:ख तथा मोह जनक होता है। इस प्रकार रजोगुण सत्व और तम की वृत्ति का जनक है और तमोगुण भी अपने आवरणक स्वरूप से सत्व और रज की वृत्ति को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह गुण अन्योन्यवृत्ति है।

सत्व लघु प्रकाशक मिष्टमुपष्टम्भकं चलञ्च रज: ।
गुरुवरणकमेव तम: प्रदीपवच्चार्थ तो वृत्ति: ।। सा० का० १३ ।।

सत्व गुण हल्का और प्रकाशक होता है, अर्थात् जब सत्व गुण की अधिकता होती है तब शरीर हल्का और बुद्धि नया प्रकाश प्राप्त करती है। इन्द्रिया प्रसन्न रहती है, रजोगुण उत्तेजक और चंचल (क्रियाशील) होता है और तमोगुण आवरण करने वाला है, अर्थात् अंगों को भारी करता है। इन्द्रियाँ आच्छादित हो जाती है अपने अर्थों को ग्रहण करने में असमर्थ होती हैं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि जब यह गुण भिन्न २ स्वभाव वाले परस्पर एक दूसरे के गुणों के विरोधी हैं तो यह एक साथ रहकर कार्य कैसे करते है। इसका उत्तर है कि "प्रदीपवच्चाथतोवृत्ति:" अर्थात् दीपक के समान पुरुषार्थ साधन के लिये इनका व्यवहार देखा जाता है। जैसे दीपक, रूई, तेल परस्पर भिन्न होते हुये भी एक दूसरे का उपकार करते हुये प्रकाश करने में समर्थ होते है। इसी प्रकार सत्व, रज और तम एक दूसरे के विरोधी होने पर भी पुरुषार्थ साधना करते हैं अर्थात् कार्य करने में समर्थ होते हैं।

जिस प्रकार विष प्राण घातक होता है परन्तु उसमें पलने वाला कीड़ा विष से ही अपना पोषण करता है। अर्थात् विष उसके लिये घातक नहीं होता है, क्योंकि विष उसकी प्रकृत्ति है वह उसके लिये घातक नहीं, उपकारक होता है। उसी प्रकार सत्वादि तीनों प्रकृति में रहकर एक दूसरे के प्रति उपकार भावना से कार्य करते हैं अपकार से नहीं।

गुणों का स्वभाव चलनात्मक है, इसी लिये व्यक्तावस्था तथा अव्यक्तावस्था दोनों अवस्थाओं में यह परिणामशील हैं। अव्यक्त अवस्था में इनमें परस्पर संयोग नहीं रहता है, उस समय यह अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इन दशा में भी परिणाम होता है जिसे सदृश परिणाम कहते हैं। सृष्टि की अवस्था में गुण परिणाम को नहीं अपितु विकार उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है पर परिणाम विकार नहीं हो सकता है क्योंकि समान भाव से परिवर्तन परिणाम कहलाता है और विषम रूप अनुभव नहीं हो सकता है केवल पृथ्वी आदि जो उनमें विकार हैं वही दृष्टिगोचर हो सकते हैं। जो वेदान्त के अनुसार मायिक और तुच्छ हैं।

गुणानां परमं रूप न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथ प्राप्त तन्मायेव सुतुच्छकम्॥ षष्ठितन्त्र॥

भगवत् गीता में तीन गुणों का वर्णन इस प्रकार वर्णित है—

सत्व रजस्तम इति गुण: प्रकृति सम्भावा:।
निवध्नन्ति महावाहो देहे देहिन मव्ययम्॥
तत्र सत्व निर्मलत्वात्प्रकाशक मनामयम्।
सुखसगेन वध्नाति ज्ञानसगेन चानघ॥
रजोरागात्मकं विद्धि तृष्णा संग समुद्भवान्।
तन्निवध्ताति कौन्तेय कर्म संगेन देहिनाम्॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्य निद्राभि स्तान्निवध्नाति भारत॥
सत्वं सुखे संजयति रज: कर्नणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तम: प्रमादे संजयत्युत॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रज: सत्वं तमश्चैव तम: सत्वं रजस्तथा॥ भ०गी० १४॥

अर्थात् हे अर्जुन! सत्य, रज और तमोगुण यह प्रकृति उत्पन्न तीन गुण हैं, ये ही इस अविनासी आत्मा को शरीर में बाँधते हैं। उन तीन गुणों में सत्व गुण प्रकाश करने वाला है, निर्मल होने के कारण सुख तथा ज्ञान की आशक्ति से बाँध देता है। राग रूप रजोगुण कामना तथा आशक्ति से उत्पन्न होकर इस जीव को कर्म तथा कर्मफलों से बांधता है। सम्पूर्ण देहधारियों को मोहने वाला तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न हुआ समझो। वह इस जीवात्मा को प्रमोद, आलस्य और निन्द्र द्वारा बांधता है। हे अर्जुन! सत्वगुण सुख की

ओर लगाता है और रजोगुण कर्म में लगाता है तथा तमोगुण ज्ञान को आच्छादित कर प्रमाद में भी लगाता है। रजोगुण तथा तमोगुण को दबाकर सत्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है और रज तथा सत्व को दबाकर तमोगुण बढ़ता है उसी प्रकार तम और सत्व को दबाकर रजोगुण बढ़ता है।

इस प्रकार यह विश्व इन तीन गुणों का ही खेल है, प्रत्येक प्रदार्थ में यह गुण विद्यमान रहते है जिनमें तमोगुण विशिष्ट होता है वह जड़ प्रकृति के होते हैं तथा जिनमें सत्वाधिक्य होता है वे ज्ञानवान् होते हैं। एक ही व्यक्ति में तीनो गुण भिन्न समय में उत्कट होते रहते हैं और तदनुरूप ही उसके स्वभाव को बना लेते हैं।

इन्द्रिय विज्ञान

शरीर में ज्ञान प्राप्ति की साधन इन्द्रिया हैं और यह पांच प्रकार की होती हैं—चक्षु. श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शनेन्द्रिय। यद्यपि सम्पूर्ण शरीर पांच महाभूत का ही संगठन है अतः इन्द्रियां भी पांच भौतिक हैं। तथापि जिस महाभूत की जिस इन्द्रिय में अधिकता है वह उसी के नाम से पुकारी जाती है। जैसे तेज महाभूत की अधिकता से चक्षु इन्द्रिय का निर्माण हुआ है अतः चक्षु तेज के गुण रूप का ही ग्रहण करती है। पृथ्वी महाभूत की विशेषता से घ्राणेन्द्रिय बनी है, वह पृथ्वी के गुण गन्ध का ही ग्रहण करती है। आकाश महाभूत कर्णेन्द्रिय में प्रधान रूप से है इसी लिये कान आकाश के गुण शब्द को ग्रहण करता है। जल महाभूत विशेष होने से रसना जल के गुण रस का आस्वादन करती है। वायु महाभूत विशिष्ट त्वगीन्द्रिय वायु के विशेष गुण स्पर्श का ज्ञान करती है।

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूत समुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि श्रोत्रे नभः घ्राणेक्षितिरापोरसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषणोपदिश्यते (चरक सू० अ० ८)।

इन पाँच इन्द्रियों के पाँच ही द्रव्य हैं जैसे—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी। इन इन्द्रियों के पाँच अधिष्ठान हैं। जैसे—आँख, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा। इसी प्रकार पाँच इन्द्रियों के विषय भी हैं यथा—शब्द, स्पर्श रूप, रस और गन्ध। इन पांचों इन्द्रियों की पाँच बुद्धियाँ भी होती हैं। जैसे—चाक्षुषबुद्धि, घ्राणजबुद्धि, श्रोत्रजबुद्धि, रासनबुद्धि और स्पार्शनबुद्धि। यह पंचपंचक भी कहलाता है।

इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि, पंचेन्द्रियद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि,

पञ्चेण्द्रियार्थाः, पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्तोत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे (चरक)

इन्द्रियों की वृत्तियाँ–

किस इन्द्रिय की क्या वृत्ति अर्थात विशेष व्यापार हैं, इस सम्बन्ध में सांख्य का वर्णन इस प्रकार है कि चक्षु का रूप, जिह्वा का रस, घ्राण का गन्ध श्रोत्र का शब्द, त्वचा का स्पर्श, यही व्यापार है। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियों का वाणी का बोलना, पाणि का आदान प्रदान, पाद का विहरण, पायु का मल त्याग और उपस्थ का मैथुन द्वारा सन्तोनोत्पत्ति व्यापार है।

रूपादिषु पञ्चाना मालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनाऽदान विहरणोत्सर्गाऽनन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ सा० का० २८॥

अन्तःकरणों की वृत्तियाँ–

महत् अहंकार तथा मन यह तीन अन्तःकरण हैं, इन अन्तःकरणों का जो अपना २ साधारण लक्षण है वह 'स्वालक्षण्य' कहलाता है। अर्थात जिसका जो लक्षण है वही वृत्ति भी है। जैसे अध्यवसाय ही बुद्धि का लक्षण है, अतः यही बुद्धि का व्यापार भी है। अभिमान ही अहंकार है, यह अहंकार का लक्षण या व्यापार है। मन का व्यापार संकल्प है, बुद्धि अहंकार और मन इन तीनों की स्वलक्षणात्मिका वृत्ति असामान्य होती है। पूर्वोक्त ज्ञानेन्द्रियों की वत्तियां भी असामान्या हैं, अर्थात वह उसी इन्द्रिय के प्रयोजक हैं जैसे रूप केवल चक्षु का ही व्यापार है रस जिह्वा आदि का ही आदि।

किन्तु कुछ व्यापार इन्द्रियों के समान रूप से भी होते हैं। साधारण रूप से इन्द्रियों की वृत्ति व्यापार है। "प्राणाद्याः वायवः पञ्च" प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान यह पाँच प्रकार के वायु हैं जो सभी इन्द्रियों के समान रूप से व्यापार हैं। क्योंकि प्राणवायु यद्यपि मुख तथा नासिका के भीतर रहता है किन्तु उसका जो स्पन्दन रूप कर्म है वह मन, बुद्धि, अहंकार दश इन्द्रियां इन तेरहों का सामान्य व्यापार है। प्राण के रहने पर ही इन सबको आत्म प्राप्ति हो सकती है। इसी प्रकार अपनयन से अपान भी सब इन्द्रियों का सामान्य व्यापार है, इसी प्रकार सभी इन्द्रियों को जानना चाहिए।

युगपच्चतुष्टयस्य तु वृत्तिः क्रमशश्च तस्य निर्दिष्टा।
दृष्टे, तथाऽप्यदृष्टे, त्रस्यस्य तत्पूर्विका वृत्तिः ॥ सां० का० ३०॥

अर्थात बुद्धि, अहंकार और मन यह जब एक इन्द्रिय से मिलते हैं तब ये चार हो जाते हैं और इन चारों की प्रत्येक विषय का निश्चय करने में एक ही वृत्ति हो जाती है। जैसे—बुद्धि, अहंकार, मन और चक्षु इन्द्रिय एक ही

समय में रूप को देखते हैं और निश्चय करते हैं कि यह पुरुष है। इसी प्रकार यह तीनों तथा जिह्वा एक साथ रस का ग्रहण करके निश्चत करते हैं कि यह मधुर है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का ज्ञान यह चारों मिलकर करते हैं। परन्तु इनकी प्रत्येक की वृत्ति क्रमशः होती है, जैसे मार्ग में खूँटे को देखकर प्रथम संशय होता है कि यह स्थाणु है या पुरुष। फिर उस पर बैठे पक्षी को देखकर मन के संकल्प द्वारा संशय के प्रति व्यच्छेद होकर बुद्धि यह निश्चय करती है कि यह स्थाणु है।

इसके पश्चात निश्चयात्मक अहंकार का व्यापार होता है कि यह स्थाणु ही है। इस प्रकार बुद्धि, अहंकार, मन और चक्षु आदि इन्द्रियों की क्रमशः वृत्तियां होती हैं। यह वृत्तियाँ युगपत तभी होती हैं जब इन्द्रियाँ अपने विषय का प्रत्यक्ष कर रही हों किन्तु अदृष्ट अर्थात अतीत या अनागत काल में तो रूपादि विषयों में बुद्धि, अहकार और मन की वृत्ति इन्द्रिय पूर्विका होती है। अर्थात् भूत और भविष्यकाल में तत्तद् इन्द्रिय पूर्विका क्रम से वृत्ति होती है और वर्तमान काल में एक साथ होती है।

पुरुषार्थ के लिये करणोंकी प्रवृत्ति–

जिस प्रकार अनेक चोर आपस में संकेत करके चोरी करने वाले स्थान पर परस्पर संकेतवश अपनी २ क्रियाओं को यथाक्रम करते हैं उसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपनी-२ वृत्तियों से प्रवृत्त होती हैं। इनकी प्रवृत्ति पुरुषार्थ के लिये ही होतीं हैं।

स्वां स्वाँ प्रतिपद्यन्ते परस्पसऽकूत हेतुका वृत्तिम्।
पुरुषार्थ एवं हेतुर्न केनचिद् कार्यते कारणम् ॥ सां० का० ३१ ॥

त्रयोदश करण––

करण तेरह प्रकार के होते हैं बुद्धि, अहंकार और मन यह तीन चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रिया पाँच और वाक्पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ पांच। इस प्रकार यह तेरह हो जाते हैं। इनका कार्य इस प्रकार है—ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाश करती हैं, कर्मेन्द्रियां आहरण धारण कादि आर्य करती हैं, इन दोनों का कार्य दश प्रकार का होता है। जैसे—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों का तथा वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग और आनन्द यह कर्मेन्द्रियों का कार्य है। इनमें भी बुद्धि, अहंकार तथा मन यह तीन अन्तःकरण कहलाते हैं और पाँच शानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय यह दश वाह्यकरण हैं। यह दश प्रकार के वाह्यकरण तीन प्रकार के अन्तःकरणों के योग्य होते हैं।

करणं त्रयोदशविधं, तदाहरण-धारण-प्रकाशकरम् ।
कार्यं च तस्य दशधाऽहार्यं धार्यं, प्रकाश्यञ्च ।। ३२ ।।
अन्तःकरणं त्रिविध, दशधावोह्यं त्रयस्य विषयाख्यम्
साम्प्रतं कालं वाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ।। सां० का० ३३ ।।

करणों में अन्तःकरण की प्रधानता—

अतःकरण के सहित अर्थात् अहंकार और मन के सहित बुद्धि सम्पूर्ण बिषयों को ग्रहण करती है इसी लिये तीन प्रकार के यह करण द्वारि अर्थात् प्रधान हैं और शेष दश वाह्यकरण द्वार अर्थात् अप्रधान हैं। क्योंकि साक्षात् रूप से अथवा परम्परा से वाह्य इन्द्रियों के द्वारा ही अन्तःकरण विषयों में अपना व्यापार करते हैं और यह जो करण कहे गये हैं वे दीपक के समान विषयों को प्रकाशित करते हैं। यह परस्पर भिन्न-२ होते हुये भी अपने-२ अर्थ को पुरुष के लिये प्रकाशित कर बुद्धि में स्थित करते हैं। तात्पर्य यह है कि जसे बत्ती, तेल और अग्नि परस्पर विरोधशील होने पर भी मिलकर प्रकाश करके अन्धकार को दूर करते हैं।

इसी प्रकार यह तेरह करण भी यद्यपि परस्पर विरुद्ध विषयों को ग्रहण करने वाले हैं किन्तु मिलकर सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करके बुद्धि को अर्पण कर देते हैं और बुद्धिस्थ आत्मा उन विषयों का उपभोग करता है। इसीलिए बुद्धि सभी करणों में प्रधान है। क्योंकि सब इन्द्रियों द्वारा तीनों कालों में होने वाले उपभोगों को देव, मनुष्य, तिर्यग् आदि सभी की ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय द्वारा अन्तःकरण सहित बुद्धि ही सम्पादित करती है। इसी लिए प्रकृति और पुरुष के विषय का विभाग भी करती है अर्थात् बन दोनों में नानात्व उत्पन्न करती है।

सन्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविध करणं द्वारि, द्वारि, द्वाराणि शेषाणि ।। ३५ ।।

बुद्धि का प्राधान्य—

येते प्रदीपकल्पाः परस्पर विलक्षणा गुणविशेषा ।
कृत्स्न पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ।। ३६ ।।
सर्वप्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधान-पुरुषान्तरसूक्ष्मम् ।। सां०का० ३७ ।।

विशेष और अविशेष—

जो तन्मात्राएँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं, जैसे शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा यह अविशेष कहे जाते हैं।

क्योंकि शान्त-घोर-मूढ़त्व रूप विशेष अर्थात् उपभोग योग्यत्व इसमें नहीं रहता है इसी लिये यह अविशेष कहलाते हैं। वह देवताओं के विषय सुखदायक दुःख तथा मोह से रहित होते हैं। क्योंकि देवता सत्व प्रधान होते हैं और सत्व सुख रूप ही होता है, अतः सूक्ष्म होने से यह देवताओं के ही विषय होते हैं।

उपर्युक्त इन पाँच तन्मात्राओं से जो पाँच महाभूत पृथ्वी, जल, तेज वायु आकाश उत्पन्न होते हैं वे विशेष कहलाते हैं। यह मनुष्य के विषय हैं जो शान्त=सुखप्रद, घोर=दुःखप्रद और मूढ़=मोहजनक हैं। जैसे—आकाश (रिक्त स्थान) घर से बाहर निकलने वाले पुरुष के लिले शान्त अर्थात् सुखप्रद है वही आकाश शीत उष्ण वर्षा से प्रताड़ित पुरुष के लिये घोर=दुःख जनक होता हैं तथा वही पथिक के लिये घने जंगलों में भटकने पर मोहजनक होता है।

यह विशेष भी तीन प्रकार के होते हैं - (१) सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर तो अट्ठारह तत्वों का समुदाय है। (२) माता-पिता से उत्पन्न होने वाला शरीर जो स्थूल शरीर है। (३) विशेष महाभूत इन तीन विभागों में बंटे हुये सब प्राकृत पदार्थों का पुरुष उपभोग करता है। इनमें से सूक्ष्म शरीर की स्थिति तत्व ज्ञान के उत्पन्न होने तक रहती है, और माता-पिता से उत्पन्न होने वाले शरीर नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार महाभूत भी प्रलयकाल में अपने-२ करणों में लीन हो जाते हैं।

> तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्य।
> एतेस्मृता विशेषाः शान्ताः. घोराश्च मूढ़ाश्च ॥ ३८ ॥
> सूक्ष्मा, मातापितृजाः सहप्रभूतैस्त्रिधा विशेषाः स्युः।
> सूक्ष्मास्तेषां नियताः, मातापितृजा निवर्तन्ते ॥ सां० का० ३९ ॥

मन, बुद्धि, अहंकार पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच तन्मात्राओं सहित सूक्ष्म शरीर लिङ्ग शरीर कहलाता है। साँख्य सिद्धान्तानुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रति पुरुष एक एक सूक्ष्म शरीर प्रकृति उत्पन्न कर देती है। यह सूक्ष्म शरीर किसी एक ही देवादि योनियों में संयुक्त होकर नहीं ठहराता है। सूक्ष्म होने के कारण उसका प्रसार रोका नहीं जा सकता है अर्थात् यह पत्थर आदि में भी प्रवेश कर लेता है। जब तक तत्व ज्ञान न हो जाये यह घूमता ही रहता है और तीनों लोकों में विचरण करता है। भोग रहित यह शरीर माता पिता से जन्य बाह्य उपचय द्वारा क्रियाधर्न का ग्रहण करने से भोगों में समर्थ होता है। अर्थात् स्थूल शरीर के बिना यह सूक्ष्म शरीर भोग में समर्थ नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि धर्माधर्म रहित सूक्ष्म शरीर का संसरण कैसे होता है। इसका उत्तर है "भावैरधिवासितम्" अर्थात् जैसे सुगन्धित पुष्प किसी वस्त्र में बांधे जायें तो वह वस्त्र भी सुगन्धित हो जाता है उसी प्रकार बुद्धि में रहने वाले धर्म अधर्म आदि सात भावों के संस्कार उस सूक्ष्म शरीर में भी रह जाते हैं क्योंकि सूक्ष्म शरीर में बुद्धि तत्व भी है। प्रलयकाल में यह महत् से तन्मात्रा पर्यन्त ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिययुक्त प्रधान में लीन हो जाता है। तब संसरण रहित होकर सृष्टि की उत्पत्ति तक प्रधान में ही लीन रहता है।

पुन: सृष्टिकाल में ससरण युक्त होकर पूर्व के स्थूल शरीरों को छोड़ता हुआ नये नये स्थूल शरीर धारण करता है। गौड़पादाचार्य आठ तत्वों का ही सूक्ष्म शरीर मानते हैं किन्तु अन्य आचार्य आठ प्रकृति और दश इन्द्रियों के सूक्ष्मांश को १८ तत्वों का सूक्ष्म शरीर मानते हैं।

पूर्वोत्पन्नमसक्तं, नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोग भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ सा० का० ४० ॥

जिस प्रकार दिवाल के बिना चित्र नहीं रह सकता है। वृक्ष के बिना छाया नहीं हो सकती है। उसी प्रकार अविशेषों अर्थात् सूक्ष्म शरीर के बिना बुद्धि आदि गुण भी नहीं रह सकते हैं। शरीर पाँच भौतिक है, इस पाँच भौतिक शरीर के बिना लिङ्ग शरीर के लिये भी स्थान नहीं है। अत: वह एक देह को छोड़ता है तो दूसरी देह धारण करता है।

इसी प्रकार बिना आश्रय के सूक्ष्म शरीर अर्थात् तेरह प्रकार के करणों का समुदाय भी नहीं रह सकता है। क्योंकि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त बुद्धि आदि करण पांच भौतिक शरीर में रहेंगे, परन्तु एक देह को त्याग कर दूसरा शरीर प्राप्त करने तक यह कहाँ रहेंगे। इसी लिये इनके आश्रय के लिये सूक्ष्म शरीर को मानना आवश्यक है, इसी बात को निम्नलिखित कारिका में स्पष्ट किया गया है।

चित्रं यथाश्रयमृते, स्थाण्वादिभ्यो विनायथा छाया।
तद्वद्विनाऽविशेषै नं तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ॥ सा० का० ४१ ॥

इस लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध में चरक संहिता में भी विशिष्ट वर्णन प्राप्त होता है।

अग्निवंश के पूछने पर कि आत्मा एक देह से दूसरी देह में किस प्रकार जाता है तथा वह सदा किनसे अनुबद्ध रहता है। इस प्रश्न का उत्तर पुनर्वसु

आत्रेय इस प्रकार देते हैं कि वह आत्मा पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के वशीभूत होकर आकाश को छोड़ सूक्ष्म वायु आदि भूतों सहित अर्थात् तन्मात्राओं के साथ उपर्युक्त लिङ्ग शरीर के रूप में मन के वेग से क्रियावान् होता हुआ माता पिता के शरीर से अन्य माता पिता से उत्पन्न होने वाले शरीर में प्रविष्ट होता है। क्योंकि आत्मा स्वयं निष्क्रिय है अतः मन के वेग से क्रियाधान् होकर एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। बिना दिव्य दृष्टि के इस क्रिया का ज्ञान हमको नहीं हो सकता है, अर्थात हम उसे देख भी नहीं सकते है।

पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण आत्मा में लीन जो सूक्ष्म भूत होते है वह आत्मा के साथ ही गर्भ में प्रविष्ट होते है और वह सूक्ष्म भुत सनातन बीजधर्मा बीज से अंकुर उत्पन्न होने के समान अपने साथ उन भुतों को लेकर भिन्न २ शरीरों में जाता है।

भूतैश्चतुर्भिः सहितः स सूक्ष्मैर्मनो जवोदेहमुपैति देहात।
कर्मात्मकत्वान्नतु तस्य दृश्यं, दिव्यं बिना दर्शनमस्तिरूपम्॥
भूतानिचत्वारि तु कर्मजानि, यान्यात्मलीनाँनिविशक्तिगर्भम।
स बीज धर्मा ह्यपरापरणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति।
(चरक शा० अ० २)

तिलक महाराज ने भी गीता रहस्य में लिङ्ग शरीर का वर्णन किया है कि जो मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये मरता है, प्रकृति के चक्र से उसकी आत्मा को छुटकारा नहीं मिलता है। यदि ऐसा न हो तो पाप पुण्य शुभाशुभ कर्मों का कोई महत्व नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि आत्मा स्वयं अकर्ता तथा उदासीन होने से नये नये जन्म नहीं लेता है अपितु आवागमन का उसका चक्र प्रकृति के साथ रहकर होता है।

मृत्यु के पश्चात् स्थूल देह विनष्ट हो जाती है उस समय इसका सम्बन्ध स्थूल महाभूतात्मक प्रकृति के साथ नहीं रहता है। क्योंकि प्रकृति से तेईस तत्व उत्पन्न होते है और स्थूल महाभूत उन तेईस तत्वों में से अन्तिम है, इन अन्तिम पाँच तत्वों को तेईस तत्वों से अलग करले तो अट्ठारह तत्व शेष रहते हैं। अतः जब पुरुष कि मृत्यु हो जाती है तो स्थूल पंचमहाभूत पृथक हो जाते है परन्तु बाकी तेरह तत्वों से उसका सम्बन्ध बना ही रहता है और यह सूक्ष्म शरीर स्थूल देह से निकलकर पुनः अन्य स्थूल देह धारण करता है। ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर ही इस लिङ्ग शरीर से छुटकारा मिलता है।

एषणाओं का निर्देश

इस संसार में मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिये तीन प्रकार की एषणायें (इच्छायें) लेकर उत्पन्न होता है। ये तीन एषणायें इस प्रकार हैं, जसे– (१) प्राणैषणा (२) धनैषणा और (३) परलोकैषणा। इन तीनों में प्राणैषणा प्रधान है, क्योंकि प्राणों के रहते ही सम्पूर्ण पुरुषार्थ प्राप्त किये जा सकते हैं। प्राणों के त्याग से सब कुछ का परित्याग हो जाता। अतः अरोग्य प्राप्त करने के लिये प्रत्येक पुरुष को प्रयत्नशील रहना चाहिये। अरोग्य प्राप्ति का यही उपाय है कि सर्वप्रथम स्वास्थ्य विज्ञान में बताये गये नियमों का पालन करके स्वास्थ्य की रक्षा करना तथा किसी प्रकार शरीर में व्याधि उत्पन्न हो जाये तो उसको दूर करने का तुरन्त उपाय करना आवश्यक है, यह प्रथम एषणा है।

(२) धनैषणा—प्राण रक्षा के पश्चात अपना कार्य सुचारु रुप से चलाने के लिये धन की आवश्यकता होती है। क्योंकि संसार में इससे बढ़कर कोई पाप नहीं है कि मनुष्य की आयु तो लम्बी हो और उसके पास धन का अभाव हो। धनहीन व्यक्ति का जोवन, जोवन नहीं होना है, उस जीदन से क्या लाभ जिसमें अहर्निश भोजन वस्त्र की ही चिन्ता बनी रहे। नीति भी कहती है कि निर्जन हिंसक पशुओं से युक्त जंगल में रहना अच्छा है। तृणों का बिस्तर तथा वल्कल धारण करना उचित है किन्तु बन्धु बान्धवों के मध्य धनहीन रहना उपयुक्त नहीं है। इसीलिये अधोलिखित उपायों से धन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

जैसे खेती करना, पशुपालन करना, व्यापार करना, राज सेवा अर्थात नौकरी करना तथा और भी ऐसे उपाय जिनकी समाज निन्दा न करे अथवा अपयश न मिले, उपयुक्त उपायों द्वारा धन प्राप्त किया जा सकता है।

(३) परलोकैषणा—परलोक कें सम्बन्ध में नास्तिकों के विचार आस्तिक दर्शनों से भिन्न है। नास्तिकों के मत में शरीर त्यागने के पश्चात कोई जन्म नहीं होता है। इस शरीर तक ही सब कुछ है इसके समाप्त होने के पश्चात कुछ नहीं, अतः उनके मत में परलोक होता ही नहीं है।

पुनर्जन्म

परन्तु आस्तिक दर्शनों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त निर्विवाद रूप में माना गया है। वास्तविकता यह है कि पुनर्जन्म मानने के कारण ही न्याय, वैशेषिक आदि दर्शन आस्तिक कहलाते हैं।

दर्शनकार पूर्वजन्म का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं 'पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्ष भयशोक संप्रतिपत्तेः" (न्या सू०) अर्थात हर्ष, भय और शोक किसी न किसी कारण से ही उत्पन्न होते हैं। फिर सद्योजात शिशु के मुख पर जो हर्ष, भयादि विकार दृष्टिगोचर होते हैं, उनका क्या कारण माना जाये। यहां एक ही कारण की कल्पना की जा सकती है, वह है पूर्वजन्म का अभ्यास, पूर्वजन्म की स्मृति के संस्कारवश शिशु में हर्ष, भय, शोक के लक्षण उदय होते हैं। यदि शिशु में यह संस्कार पूर्वजन्म के न होते तो इस जन्म में अनुभव प्राप्त करने से पूर्व ही अर्थात् आरम्भ से ही उसमें हास्यरोदन का संचार कैसे होता। इससे पूर्वजन्म के संस्कारों का अस्तित्व सूचित होता है।

इसी प्रकार जन्म लेने के साथ ही शिशु में स्तनपान करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। यह भोजन की अभिलाषा भी बिना पूर्वाभ्यास के नहीं हो सकती है। इससे सिद्ध होता है कि वही आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में आकर पूर्वाभ्यास से प्रेरित हो क्षुधायुक्त होकर दुग्धपान में प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वाभ्यास से ही स्मृति-संस्कार बनता है, किन्तु यदि शिशु में पूर्वजन्म का संस्कार ही जागृत होता है तो उसे पूर्वजन्म की सभी बातों का स्मरण क्यों नहीं होता है। इस लिये कि अदृष्ट का परिपाक जितने संस्कारों को जगाता है उतनी ही स्मृति जागृत होती है। कोई ऐसा नियम नहीं है कि एक स्मृति पटल पर अंकित हो जाये तो सभी बातें उसी प्रकार अंकित हो जायें। देहान्तर प्राप्ति होने पर प्रबलतम संस्कार ही सूक्ष्म रूप से पुनरुज्जीवित होता है।

इससे स्पष्ट है कि पुनर्जन्म होता है और आत्मा नित्य पदार्थ है। "आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभाव सिद्धिः" (न्या० सू० ३-१-२३)

भिन्न-२ आचार्यों में पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएं दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) कुछ लोग प्रत्यक्षवादी हैं उनका कथन है कि कोई परलोक को जाता दिखाई नहीं देता है, इसी लिये पुनर्जन्म नहीं माना जा सकता है।

(२) आस्तिक लोग आप्तोपदेश, अनुमान और श्रुतिवाक्यों से पुनर्जन्म को सिद्ध करते हैं।

(३) तीसरे जन्म का कारण माता पिता को ही मानते हैं और कुछ स्वभाव को ही कारण मानते हैं। किसी के मत में कोई इस संसार का रचने वाला है, वही जीव को भी उत्पन्न करता है। कुछ लोगों का मत है कि ऐसी ही इच्छा है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम चल रहा है।

मातरं पितरञ्चैके मन्यन्ते जन्मकारणम्।
स्वभावं परनिर्माणं यदृच्छाञ्चापरे जनाः ॥ चरक सू० ॥

समाधान–

धृष्टता से यदि कोई नास्तिक बन जाये और प्रमाणों को भी न माने तो उसका कोई उपाय नहीं है। यदि कहो कि पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष नहीं है तो संसार में प्रत्यक्ष बहुत कम और अप्रत्यक्ष अधिक हैं। जिसका ज्ञान हमें आप्तोपदेश, अनुमान आदि प्रमाणों से होता है। वास्तव में जिन इन्द्रियों द्वारा हम प्रत्यक्ष करते हैं वह इन्द्रियाँ स्वयं अप्रत्यक्ष हैं तथा प्रत्यक्ष करने में भी अनेक बाधाएं हैं जिनके कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। यह कारण प्रत्यक्ष प्रमाण में वर्णित है।

अब यदि कहें कि माता पिता ही सन्तानोत्पत्ति में कारण हैं तो ऐसा दो प्रकार से हो सकता है कि आत्मा प्रथम सम्पूर्ण रूप से दूसरे अंश रूप में, सन्तान में जावेगा। यदि आत्मा सम्पूर्ण रूप से सन्तान में जाये तो तत्काल माता पिता की मृत्यु हो जानी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता है, दूसरे अंश रूप में जाता है ऐसा मानें तो क्योंकि सूक्ष्म आत्मा का कोई विभाग नहीं हो सकता है। यही स्थिति मन और बुद्धि की भी है तथा माता पिता ही पुत्र उत्पत्ति में करण हों तो शास्त्रों में उल्लिखित चार प्रकार की योनियाँ नहीं हो सकती हैं क्योंकि जरायुज और अण्डज तो माता पिता से उत्पन्न माने जा सकते हैं किन्तु स्वेदज तथा उद्भिज तो स्वेद एवं उष्मा जन्य हैं। इनका माता पिता से कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर इन योनियों को नहीं मानेंगे? ऐसा नहीं हो सकता है, योनियाँ चार प्रकार की प्रत्यक्ष हैं।

स्वभाव वादियों के मत का खण्डन–

यदि कहें कि पृथ्वी, जल तेज, वायु, आकाश और आत्मा का संयोग स्वभाव से ही होता है तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि पंचमहाभूतों का अपना-२ लक्षण तो स्वभाव है। जैसे पृथ्वी का गन्ध, जल का शीतल स्पर्श,

तेज का उष्णत्व आदि किन्तु इनका परस्पर संयोग हो जाये, यह तो पांच भूतों का स्वभाव नहीं है। संयोग तथा विभाग कर्म के बिना नहीं हो सकता है और कर्म यदि माना जाये तो पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है।

परनिर्माण वादियों का खण्डन--

चैतन्य आत्मा अनादि है, यदि इसका कोई निर्माता माने तो वह कार्य हो जायेगा और आत्मा का अनादित्व समाप्त हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, आत्मा अनादि और नित्य पदार्थ है इसका निर्माण नहीं माना जा सकता है। हाँ यदि पर का अर्थ परमात्मा है तो यह मान्य हो सकता है।

यदृच्छावादियों का खण्डन–

जिन्होंने अपनी इच्छा से ही अपनी आत्मा का हनन कर लिया और जिनके लिये न परीक्षा है न परीक्ष्य विषय है। न कोई कर्ता है और न कारण न कर्म है न कर्म का फल, न आत्मा है न जन्म मरण है, न पाप है और न पुण्य, ऐसे नास्तिकों का परित्याग कर लेना चाहिये। इनसे तो बात करना भी मूर्खता है। अत: ऐसी कुबुद्धि को त्याग कर श्रेष्ठ बुद्धि रूपी दीपक से सत्या-सत्य की परीक्षा करके ही निर्णय करना चाहिये।

ऋषियों ने सत्य असत्य के निर्णय के लिये चार प्रकार की परीक्षा बतलायी है। जैसे—(१) आप्तोपदेश से (२) प्रत्यक्ष द्वारा (३) अनुमान एवं (४) युक्ति से। सम्पूर्ण शास्त्र उपनिषद् आदि आप्तोपदेश ही हैं और इनसे पूनर्जन्म का होना सिद्ध होता है। इन आप्त ऋषियों ने ज्ञान चक्षुओं से प्रत्यक्ष करके ही सत्य ज्ञान का उपदेश किया है इसीलिये पुनर्जन्म प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस लोक में भी कई व्यक्ति अपने पिछले जन्म का हाल बताते देखे गये हैं।

अनुमान से पुन र्जन्म की सिद्धि–

व्यापार में देखा गया-है कि अधिकांश सन्तानों के शरीरावयव माता पिता के समान नहीं होते है। एक ही माता पिता की सन्तानों में वर्ण आकृति बुद्धि, भाग्य आदि में अन्तर होता है, आयु में भी कोई सुखायु कोई दु:खायु एवं अल्पायु दीर्घायु होते है। कर्म और उनके फल में भी भिन्नता दिखाई देती है। जन्म लेते ही बच्चे का रोना, हँसना, स्तनपान करना आदि से पुनर्जन्म का अनुमान होता है।

इसी प्रकार एक ही वस्तु में एक भाई का प्रेम और दूसरे का विरोध

देखने में आता है। इन सभी लक्षणों से प्रतीत होता है कि जिस व्यक्ति का जैसा कर्म पूर्वजन्म का है उसी के अनुसार उसको फल की प्राप्ति होती है। क्योंकि कर्म का फल मिटाया नहीं जा सकता हैं, वह अविनाशी है। उसी कर्म फल को लोक में देव, भाग्य और प्रारब्ध के नाम से पुकारते हैं। "यत्पूर्वकृत कर्म: तद्दैवमिति उच्यते" अत: इस जन्म के किये कर्म का फल अगले जन्म में भोगना पड़ता है। क्योंकि बडे बडे कर्मो का फल तत्काल नही मिल सकता है, जैसे गेहूं का बीज अनुकूल ऋतु में बोने पर भी छ: मास में फल देता है। जिस प्रकार फल से बीज और बीज से फल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कर्म के अधीन जन्म भी होता है।

युक्ति से पुनर्जन्म सिद्धि--

कर्त्ता और कारणों के संयोग से क्रिया होती है किये हुये कर्म का फल होता है बिना किये नहीं होता हैं। जैसे पाँच महाभूत और पुर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म के वशीभूत आत्मा के सम्बन्ध से गर्भ की उत्पत्ति होती है। क्योंकि जौ के बीज से जौ और सरसों से सरसों ही पैदा होती है। अत: जैसा कोई कर्म करता है उसी के अनुसार फल भोगने के लिये अनुकूल योनि में जन्म लेना पडता है यही युक्ति है।

इन चार परमाणुओं से पुनर्जन्म स्पष्ट सिद्ध है जब तक आत्मा को स्वयं का एवं प्रकृति के गुणों का ज्ञान होता है तब तक जन्म मरण का चक्र समाप्त नहीं होता है। इसी लिये मोक्ष पर्यन्त आत्मा एक शरीर को त्याग कर दूसरा शरीर ग्रहण करता रहता है।

सत्कायवाद के सिद्धान्तानुसार कोई वस्तु न नई उत्पन्न होती है और न किसी का विनाश ही होता है केवल साधनों के संयोग से कारण को कार्य रूप में परिवर्तित किया जाता है और इसे उत्पत्ति कह देते हैं। इसी प्रकार जब कार्य विच्छेदित होकर कारण में लीन होता है तब उसे विनाश कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी जब पंचमहाभूतात्मक देह का त्याग करता है तो मृत्यु और जब पुन: स्थूल शरीर धारण करता है जो जन्म लेता है। इस प्रकार पुनर्जन्म होता है यह पूर्ण सत्य है।

पुनर्जन्म भारतीय तत्व ज्ञान (Philosophy) का मौलिक सिद्धान्त है। शरीर की मृत्यु के साथ शरीर स्थित आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देहगत संस्कारों के साथ होकर दूसरे शरीर में चला जाता है। इसीलिये गीता का यह उपदेश युक्तियुक्त है कि--

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।

सुश्रुत इसी बात को इस प्रकार वर्णन करते हैं कि उचित द्रव्यों की भावना देने से जिस प्रचार औषध में गुणों की वृद्धि होती है, वैसे ही ज्ञान विज्ञान सम्पन्न अध्ययन तथा चिन्तनादि भावनाओं से जिनके गुणों की वृद्धि होकर शास्त्रों में वर्णित नियमों में विश्वास रखने वाले व्यक्तियों में अनेक जन्मों में संस्कार मृत्यु के पश्चात् लिङ्ग शरीर के साथ जाते हैं। यह संस्कार फिर दूसरे जन्म में आविर्भूत होते हैं।

इस प्रकार जन्म जन्मातर के संस्कार शरीरों के बदलने पर भी आत्मा और मन के साथ परम्परा रूप में अविच्छिन्न रूप से इकट्ठे होते जाते हैं और इसका प्रमाण उन व्यक्तियों में मिलता है, जिन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण रहता है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता है क्योंकि राजस तामस प्रकृति विशिष्ठ प्राणियों को यह स्मृति नहीं होती है केवल सत्व प्रधान मन में ऐसी ही स्मरण शक्ति शक्ति होती है।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्र बुद्धयः।
भवन्ति सत्वभूयिष्ठा पूर्वजातिस्मरा नराः ।।सुश्रुत शा० ५६।।

इसी प्रकार चरक में इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। "रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्ध कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः" (चरक शा० २) वैसे तो पूर्व जन्म को सिद्ध करने के लिये जाति स्मरता अकाट्य प्रमाण है। पुराणों एवं साहित्य ग्रन्थों में इसके उदाहरण पाये जाते हैं। वाणभट्ट की कादम्बरी में जाति स्मरता की कथा मिलती है। पाश्चात्य देशों में भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में खोज हुई जिसके अनुसार राल्फशर्ले' अपनी पुनर्जन्म की पुस्तक में अलेक्साड्रिना सामोना और निरिया का उद्धरण अत्यन्त महत्व का दिया है।

केवल इस्लाम और क्रिश्चियन धर्मों में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं मिलती है उनके अनुसार शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है और क्यामत के दिन तक कब्रिस्तान में पड़ा रहता है। किन्तु अब लोगों को विचार होने लगा कि पुनर्जन्म की कल्पना आत्मा की दृष्टि से एक आवश्यक घटना है। क्योंकि माता पिता से सन्तान को जो शरीर मिलता है उसमें भौतिक तथा कुछ कुल सम्बन्धी गुण तो मिलते हैं, परन्तु सम्पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक गुण दोषों की उत्पत्ति मानना कठिन है।

योग का विवेचन

योग हिन्दू जाति को प्राचीन तथा श्रेष्ठ सम्पत्ति मानी जाती है यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवाद के लिये स्थान नहीं है। प्राचीन ऋषियों के प्रतिभाशाली ज्ञान की उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। सांसारिक दु:खों से सन्तप्त जीवों की ब्रह्म से मिलाने वाला योग ही है। योग तथा मोक्ष में सम्पूर्ण वेदनाएं समाप्त हो जाती हैं मोक्ष में तो नि:शेष रूप से समाप्त होती हैं, योग मोक्ष का प्रवर्तक है। बुद्ध धर्म के पालि त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन मिलता है।

समाधि अर्थ में युज धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है, अत: योग का अर्थ है समाधि। पतञ्जलि ने योग का अर्थ किया है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। चित्त से अभिप्राय अन्त:-करण अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार से है। चित्त की पाँच अवस्थाएं होती है—(१) क्षिप्त (२) मूड (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरूद्ध।

(१) क्षिप्त अवस्था में मन रजोगुण की विशेषता के कारण अस्थिर अर्थात् चञ्चल बना रहता है। इस समय इसकी वृत्ति वहिर्मुखी होने से साँसारिक सुख दु:खों की ओर स्वत: प्रवृत्त होता है।

(२) मूढ अवस्था में तमोगुण की अधिकता होने से चित्त विवेक शून्य रहता है। कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान न करके क्रोध आदि से विरूद्ध कार्यों में ही प्रवृत्त रहता है।

(३) सत्त्व के प्राधान्य से दु:खकारक साधनों को त्याकर सुख के साधन इत्यादि विषयों में प्रवृत्त होता है। तब उसकी विक्षिप्त दशा जाननी चाहिये। "क्षिप्तात् विशिष्ट विक्षिप्तम्" क्योंकि राजसिक क्षिप्त की अपेक्षा सात्विक चित्त कभी २ स्थिरता प्राप्त कर लेता है। अत: इस विशेषता के कारण इसे विक्षिप्त कहते हैं।

(४) जब वाह्य वृत्तियों को रोक कर चित्त एक ही विषय में अपने को लगा देता है और उस विषय में एकाकार हो जाता है तो इसे एकाग्र कहते हैं।

(५) जब सभी वृत्तियाँ तथा संस्कार लीन हो जाते हैं तब चित्त की निरुद्ध अवस्था कहलाती है।

उपरोक्त पाँच अवस्थाओं में प्रथम तीन अवस्थाय समाधि के लिये नितान्त अनुपयोगी हैं। अन्तिम दो अवस्थाओं में ही योग का उदय होता है।

चरक संहिता में योग का लक्षण इस प्रकार किया गया है—आत्मा, मन, इन्द्रिय और विषय इनका संयोग होने से अनुकूल विषय की प्राप्ति से सुख तथा प्रतिकूल विषयों से दु:ख उत्पन्न होता है। किन्तु जब इन्द्रियां विषयों से निवृत्त हो जाती हैं, अर्थात् वाह्य ज्ञान साधनों का कार्य रोक दिया जाता है और मन इन्द्रियों से सम्बन्ध विच्छेद कर आत्मा में ही अवरुद्ध हो जाता है तो इस अवस्था को योग कहते हैं। तथा इस दशा में सुख-दु:ख समाप्त हो जाते हैं वशित्व उत्पन्न हो जाता है।

आत्मेन्द्रिय मनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
सुख दु:ख मनारम्भे आत्मस्थे मनसिस्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञांस्तयोगमृषयो विदु:॥ चरक शा० १॥

पुरुष स्वभावत: शुद्ध चैतन्य रूप तथा शरीर एवं मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है परन्तु अज्ञानावस्था में वह मन से सम्बन्ध रहता है। चित्त प्रकृति जन्म है इसी लिये अचेतन है। पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने पर चेतन के समान प्रतीत होता है और पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर वह तद्रूप ही हो जाता है। पुरुष को पदार्थ का ज्ञान चित्त के इन्हीं परिवर्तनों के कारण होता है, जिन्हें वृत्तियाँ कहते हैं। जिस प्रकार नदी की लहरों में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चलायमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार परिणामशील चित्त में पुरुष का प्रतिबिम्ब भी परिवर्तनशील दिखाई देता है।

चित्त की वृत्तियाँ–

प्रधानतया चित्त की पांच प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं— (१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा और (५) स्मृति। प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रकार का सत्यज्ञान है। मिथ्याज्ञान को विपर्यय कहते है। जिसमें संशय भी आता है। शब्द ज्ञान से उत्पन्न किन्तु सत्य वस्तु से रहित ज्ञान विकल्प होता है। तम के आधिक्य से होने वाली वृति निद्रा कहलाती है।

अनुभव किये गये विषयों का बिना परिवर्तन के ठीक ठीक याद आना स्मृति कहलाता है। चित्त के समस्त व्यापारों का अन्तर्भाव इन्हीं पाँचों के अन्दर हो जाता है। वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियाँ उत्पन्न होती है।

अष्टविध योग बल–

महर्षि आत्रेय ने योग द्वारा आठ प्रकार का योगबल प्राप्त होने का उल्लेख किया है। जैसे सत्वगुण के प्रकट होने से योगियों के शरीर में चित्त को एकाग्र करने की शक्ति, सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान, इच्छानुसार क्रिया करना, योग दृष्टि द्वारा सभी पदार्थों को देख लेना, दूर की आवाज सुनना, पूर्वजन्म के विषयों का स्मरण करना, प्रकट होना तथा अन्तर्धान हो जाना यह ईश्वरीय बल प्राप्त हो जाता है।

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दत: क्रिया।
दृष्टि: श्रोत्रं स्मृति: कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्ध सत्व समाधानात् तत्सर्वमुपजायते ॥ चरक शा० १ ॥

योग के प्रकार–

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से योग दो प्रकार का है। समाधि दो वस्तुओं की रघड़ के समान है और उससे उत्पन्न ज्ञान घर्षण से उत्पन्न होने वाली आग के समान है। यह ज्ञानाग्नि अन्य वृत्तियों का नाश कर देती है और कुछ काल तक स्वयं प्रद्योतित रहती है। अन्ततोगत्वा स्वयं शान्त हो जाती है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ गीता० अ० ४ ॥

सम्प्रज्ञात समाधि–

जिस समय चित्त अन्य वृत्तियों के क्षीण होने पर एकाग्र होकर एक ही वस्तु के ध्यान में संलग्न होता है उस समय सम्प्रज्ञात समाधि से ही इस ज्ञान का उदय होना इसका फल है। यह प्रज्ञा सत्य अर्थ को प्रद्योतित करती है। समस्त क्लेशों का नाश करती है, कर्म बन्धनों को शिथिल कर निरोध को अभिमुख करती है, यही असम्प्रज्ञात समाधि है। वास्तव में एकाग्र चित्त की वह अविचल अवस्था जब चित्त ध्येय वस्तु पर अधिक समय तक स्थिर रहता है, सम्प्रज्ञात समाधि कहलाता है, इसमें चित्त एकाग्र करने के लिए कोई न कोई अवलम्बन अवश्य होता है।

योग प्राप्त करने के लिए आत्मा का शरीर और मन पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है। जब तक यह अधिकार नहीं होता तब तक उसमें प्रज्ञा की उपलब्धि नहीं हो सकती है। इसीलिए शरीर, मन तथा इन्द्रियों की पवित्रता के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश पातञ्जल दर्शन में किया गया है।

योग साधन के उपाय--

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि ।

(१) यम का अर्थ संयम है, यह पाँच प्रकार का होता है- (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्त्येय (४) ब्रह्मचर्य (५) अप्रतिग्रह । यह श्री मद्भगवद्-गीता के अनुसार दैवी सम्पदा कहलाते हैं ।

(२) नियम—नियम भी पाँच प्रकार के होते हैं—शौच, सन्तोष, तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान । अर्थात वाह्याभ्यन्तर शुद्धि, अधिक ग्रहण की अनिच्छा, द्वन्द्वों एवं कठिन व्रतों का पालन, मुक्ति विषयक शास्त्रों का अध्ययन और सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वरार्पण करना नियम कहलाता है ।

(३) आसन – स्थिर तथा सुख देने वाले बैठने के प्रकार आसन कहलाते हैं । जैसे कमलासन, शीर्षासन, सिद्धासन आदि ।

(४) प्राणायाम आसन जीत लेने के पश्चात् श्वास प्रश्वास क्रिया की गति का विच्छेद करना प्राणायाम है ।

(५) प्रत्याहार जब इन्द्रियाँ अपने दाह्य विषयों से पृथक् होकर मन के समान ही निरूद्ध हो जाती हैं तब इसे प्रत्याहार कहते हैं । अर्थात इन्द्रियों की अन्तर्मुखी वृत्ती होना प्रत्याहार है ।

(६) धारणा—किसी विशेष स्थान पर जैसे नाशा के अग्रभाग पर, देवता की मूर्ति पर चित्त को लगाना धारणा कहलाता है ।

(७) ध्यान—उस स्थान विशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूप से प्रवाहित होता है और उसको दबाने के लिये कोई दूसरा ज्ञान नहीं होता तो इसे ध्यान कहते है ।

(८) समाधि—विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होना समाधि है ।

मोक्ष या अपवर्ग

कर्मचक्र की गति का अन्त हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है । जन्म-मरण परम्परा का अवसान हो जाने से सकल दुःखों से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है । इसी को मोक्ष या मुक्ति कहते हैं जब तक कर्म शेष रहता है तब तक उसका फल भोगने के लिए जन्म धारण करना ही पड़ता है । जब संचित और प्रारब्ध कर्म का फल समाप्त हो जाता है तथा आगे के लिए नवीन (क्रियामाण) कर्म की उत्पत्ति नहीं होती है तब पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता है (वा० भा०) ।

जब रजोगुण और तमोगुण निःशेष रूप से समाप्त हो जाते हैं जितने भी बड़े २ कर्म हैं उनका फल भोग लिया जाता है और आगे के लिये कोई ऐसा कर्म नहीं किया जाता है जिसका कि फल भोगना पड़े तो ऐसी अवस्था को अपुनर्भव कहते हैं।

मोक्षो रजस्तमोऽभावात् बलवत्कर्म संक्षयात्।
वियोगः कर्म संयोगे, अपुनभवमुच्यते ।। चरक शा० १ ।।

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है परन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोग से प्रकृति के द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं और उनका जो प्रतिबिम्ब पुरुष पर पड़ता है वही इस पुरुष का दुःख-भोग संसार है। अतः सृष्टि का मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेक है। सांख्य सूत्र के अनुसार "द्वयोरेकतस्यवा औदासीन्यपवर्गः" अर्थात् प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना कैवल्य या मोक्ष है। बन्ध तथा मोक्ष वस्तुतः प्रकृति के धर्म हैं पुरुष के नहीं हैं।

सांख्यकारिका के उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है कि पुरुष न बंधता है न मुक्त होता है और न संसरण करता है। प्रकृति ही अनेक आश्रयों वाली होकर बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय और महाभूतों से बद्ध होती है, मुक्त होती है और संसार में आवागमन करती है। केवल प्रतिबिम्ब के कारण पुरुष पर बन्धन तथा मोक्ष का आरोप होता है। अतः प्रकृति ही पुरुष को बद्ध एवं मुक्त करती है, जैसे जय या पराजय तो सेना के सिपाहियों की होती है किन्तु वे सिपाही राजा के आश्रित होते हैं। अतः हारजीत से होने वाले शोक या हर्ष स्वामी को भी होते हैं और फिर राजा हार गया या जीत गया, ऐसा व्यवहार होता है।

तस्मान्न वध्यतेऽद्धा, न मुच्यते, नापिसंसरति कश्चित्।
संसरति वध्यते मुच्यते च नानाऽश्रया प्रकृतिः ।। सां० का० ६२।

पुरुष का मोक्ष प्राप्त करने का अभिप्राय यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र असंग और केवल की दशा प्राप्त कर लेता है। व्यक्त अव्यक्त तथा ज्ञ के तत्वज्ञान से विवेक सिद्धि होती है जिसका फल निःशेष दुःख निवृत्ति है। इसी अवस्था में पुरुष की कृतकृत्यता है। प्रत्येक पुरुष की अपवर्ग सिद्धि के लिये ही प्रकृति का समस्त व्यापार होता है।

"प्रतिपुरुष बिमोक्षार्थं स्वार्थइवपरार्थं आरम्भः" ।। सा० का० ।।

जब अपवर्ग की सिद्धि हो जाती है तो प्रयोजन के अभाव में उसका

विराम होना स्वाभाविक ही है। पाचक भोजन में तभी तक प्रवृत्त होता है जब तक भोजन पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं हो जाता है।

"विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके"। सां० का० ॥

प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो श्रृङ्गारादि रसों से तथा रति-हास आदि भावों से रचे हुए गीत वाद्य नृत्य द्वारा रंगमंच पर उपस्थित सभासदों का मनोरञ्जन करती है। जब उसका कार्य समाप्त हो जाता है तो वह वहां से चली जाती है। इस प्रकार पुरुष को अपना प्रदर्शन कर अर्थात् बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, इन्द्रिय और महाभूत रूप से अपने को प्रकट कर प्रकृति लौट जाती है।

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ सा० का० ५६ ॥

प्रकृति इतनी सुकुमार एवं लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष द्वारा उपभोग किये जाने पर दुबारा पुरुष के समक्ष उपस्थित नहीं होती है अर्थात् विवेकशील पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता है। विवेक हो जाने से पुरुष को यह निश्चय हो जाता है कि मैं कर्ता नहीं हूँ, यह भोग्य शरीर मेरा नहीं है, क्योंकि मैं इससे भिन्न हूं मैं भोक्ता भी नहीं हूँ। ऐसा संशय रहित पञ्चविंशति तत्वात्मक ज्ञान पुरुष को उत्पन्न होता है तो प्रकृति स्वयं पुरुष का साथ छोड़ देती है।

एवं तत्वाभ्यासान्नास्मिनमे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ साँ० का० ६४ ॥

मुक्ति दो प्रकार की होती है—(१) जीवन्मुक्ति (२) विदेहमुक्ति।

(१) जीवन्मुक्ति--

प्रज्ञा प्राप्त हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्ति व्यक्ति कर्म व्यापार से मुक्त नहीं होता है परन्तु उसके कर्म, बन्धन उत्पन्न नहीं करते हैं। वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार क्लेशरूपी जल से सींची गई बुद्धिरूपी भूमि में कर्मबीज के अंकुर तो पैदा होते है किन्तु तत्वज्ञान रूपी भीषण ग्रीष्म के कारण वह भस्म हो जाते हैं जिस प्रकार कुम्हार के चक्र चलाने के पश्चात् जब वह अपना कार्य बन्द कर लेता है तब भी कुछ समय तक चक्र स्वयं चलता रहता है ठीक उसी प्रकार प्रकृति का व्यापार समाप्त होने पर भी पूर्वाभ्यास से पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता रहता है।

(२) विदेहमुक्ति--

जब शरीर का विनाश होने पर पुरुष अवश्यम्भावी आत्यन्तिक विनाश रहित दुःखत्रय से रहित हो जाता है तो इसी को विदेह मुक्ति कहते हैं। विज्ञान भिक्षु इसी मुक्ति को वास्तविक मुक्ति मानते हैं। मुक्ति के प्रकार में मत-भेद हो सकता है, किन्तु मुक्ति के स्वरूप के विषय में साँख्याचार्यों की एक ही धारणा है कि दुःखमय का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमवद्धृतशरीरः ।। ६७ ।।
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ ।
एकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ।। सा० का० ६८ ।।

वैशेषिकों का मत भी यही है कि अदृष्ट का अभाव हो जाने पर आत्मा का शरीर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और जन्म-मरण परम्परा का अवसान हो जाने से सम्पूर्ण दुःखों से सदा के लिए छुटकारा मिल जाता है। यही मोक्ष अथवा मुक्ति है।

"तद्भावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्ष ।।" वै० सू० ५-२-१८ ।।

सृष्टि एवं लय

न्याय वैशेषिक मतानुसार परमाणुओं के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, परमेश्वर की इच्छा होने पर उसकी सोई हुई शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं और सृष्टि कार्य आरम्भ हो जाता है। इसमें सबसे प्रथम वायु के परमाणुओं में स्पन्दन होने लगता है और फिर वे परमाणु परस्पर संहत होने लगते हैं और क्रमशः द्वयणुक, त्र्यणुक आदि का निर्माण होकर महावायु की हिलोरें आकाश में उठने लगती हैं। इस संघर्ष से जल के परमाणुओं का संचार होकर महासमुद्र बन जाता है और धीरे २ पृथ्वी की उत्पत्ति होने लगती है। अन्त में तेज के परमाणु परस्पर मिलते हैं और तेजपुञ्ज प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार चारों महाभूत प्रकट होकर परमेश्वर के ध्यान मात्र से तेज तथा पृथ्वी के परमाणु आपस में मिलकर एक महान अण्ड का निर्माण करते हैं। यही अण्ड 'हिरण्यगर्भ' कहलाता है। इस हिरण्यगर्भ से चतुर्मुख ब्रह्मा का उदय होता है जो सृष्टि क्रम में प्रवृत्त होता है। ब्रह्मा सभी लोकों के सृजनहार होने से पितामह कहलाते हैं। ब्रह्मा में असीम ज्ञान का भण्डार रहता है अतः वे सभी प्राणियों के धर्म-अधर्म को जानते हैं और सब प्राणियों को कर्मानुसार फल प्रदान करते हैं।

उनमें किसी के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती है अतः वह अपने मन से प्रजापतियों को उत्पन्न करते हैं तब क्रमशः मनु, देवता ऋषि, पितर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और नाना कोटियों के जीव उत्पन्न होते हैं। सबको ही अपने २ पूर्वकर्मों के अनुसार योनियाँ मिलती हैं तथा उसी के अनुकूल आयु, ज्ञान तथा भोग के साधन भी मिलते हैं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह चालू हो जाता है।

योग वाशिष्ट के अनुसार भी सृष्टि वर्णन इस प्रकार दिया गया है कि अव्याकृत नाम रूप वाले ब्रह्म से निर्विकल्पक ज्ञान से प्रकाशित सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय पाकर संकल्प विकल्प रूप मनन की सामर्थ्य से स्वयं घनता को प्राप्त होकर मन बन जाता हैं। यह मन तन्मात्ररूप सूक्ष्म भूतों की कल्पना स्वप्न के समान करता है और वासना मय पुरुष का आकार धारण कर लेता है। उस वासना मय पुरुष के आकार से उपहित आत्मा तेज प्रधान लिङ्ग शरीर समष्टि रूप उपाधि वाला होने से तैजस हो जाता है। उसी ने अपना 'ब्रह्मा' यह नाम किया है। यह ब्रह्मा सङ्कल्प मय होने के कारण जिस वस्तु का संकल्प करते हैं, उसी को देखते हैं तदनन्तर उन्होंने "अविद्या" की कल्पना की है अविद्या का तात्पर्य यहाँ पर अन्यथा ग्रहण लक्षण अध्यास रूप कार्या अविद्या है। वही अनात्मा में आत्माभिमान रूप है। इस रीति से ब्रह्मा ने पर्वत, समुद्र, तृण रूप इस जगत् की क्रमशः कल्पना की है। यद्यपि उपरोक्त चिदेकरस ब्रह्मतत्व से यह सृष्टि प्रकट हुई है। तथापि तार्किक लोग जड़ प्रधान परमाणु आदि से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं। एक-एक के अनेक उपादानों की कल्पना में गौरव हैं।

अतः परणओं से जगत् की सृष्टि मानने वाले तार्किकों का मत युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि किसी कर्त्ता के बिना जड़ प्रधान से जगत् की विचित्र रचना नहीं हो सकती है और असङ्ग उदासीन में कर्तृत्व की उपपत्ति भी नहीं हो सकती है। अतएव प्रधान को जगत् का कारण मानने वाले साँख्यों का मत उचित नहीं है। चित् का जड़ के आकार में परिणाम नहीं हो सकता है इसी लिये विज्ञान को जगत् का कारण मानने वाले विज्ञानवादी बौद्धो का मत ठीक नहीं है।

शून्य कहीं भी कारण नहीं देखा जाता अतः शून्य को कारण मानने वाले शून्यवादियों का मत भी अयुक्त है। इन सभी पक्षों में कोई प्रमाण न होने से यह सृष्टि परमाणु प्रधान आदि से नहीं हुई है अपितु श्रुतिरूप प्रमाण से और लाघव से अनिर्वचनीय माया रूप शक्ति वाले ब्रह्म का ही यह विवर्त

है। क्योंकि जगत् ब्रह्म का ही विवर्त हैं अतः जैसे समुद्र से तरङ्गों की उत्पत्ति होती है, वैसे ही तीनों लोकों के मध्यवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है।

यह ब्रह्म उल्लास को प्राप्त होकर चिदाभास उपाधि की असंख्यता से असंख्य संसरणशील जीव नाम से पुकारे जाते हैं। फिर मायाकाश में तन्मात्रोपाधियों से मिलकर आकाश में स्थित आवह, उद्वह आदि भेद युक्त वायुओं के उनचास स्तरों के मध्यवर्ती चौदह लोकों में जिस प्रकार की भूत जाति में रहने से जिस प्रकार की वासना और कर्म से अभिनिविष्ट होते हैं। उसी भूत जाति के प्राणशक्ति द्वारा स्थावर अथवा जंगम शरीर में प्रविष्ट होकर रजः वीर्य रूप बीजभाव को प्राप्त होते हैं। तदुपरान्त जगत् में योनियों से उत्पन्न होते हैं और वासना प्रवाह के अनुसार अपने कर्म फल के भागी हो जाते हैं।

वैद्यकेतु--

> स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छाँ नियतिं तथा।
> परिणामञ्च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ।। सू०शा० १० ।।

जगत् की विचित्रता एवं विलक्षणता को देख मनुष्यों ने इस जगत् के कारण के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएं की हैं। भारतीय ऋषियों ने भी इस सम्बन्ध में विशेष चिन्तन किया है और यही कारण है कि उनमें भी कई मतमतान्तर प्रचलित हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी सृष्टि के कारण को लेकर अनेक प्रश्न किये गये हैं।

उपरोक्त मतान्तरों का विवरण इस प्रकार है कि साँख्य अथवा प्रकृतिवादी 'प्रकृति' को जगत् की सृष्टि का कारण मानते हैं। स्वाभाववादी या लोकायतिक 'स्वभाव' को सृष्टि का कारण मानते हैं। वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी 'परमेश्वर' को कारण मानते हैं। कालवादी 'काल' को, मीमाँसक 'नियति' को और गुण परिणामवादी नास्तिक पंचमहाभूतों को ही सृष्टि का कारण मानते हैं। प्रत्येक अपने २ पक्ष की पुष्टि करता है और दूसरों के पक्ष का खण्डन करता है। परन्तु आयुर्वेद के समर्थक ऋषि सम्प्रदायों से पृथक् उदार दृष्टिकोण वाले थे। उन्होंने विषय के अनुरोध और औचित्य के अनुसार चिकित्सा शास्त्र में उपरोक्त सभी मतों का समर्थन किया है। सुश्रुत एवं चरकादि ग्रन्थों में इन सभी के उदाहरण पाये जाते हैं।

प्रलय---

जब ब्रह्मा के समय के अनुसार सौ वर्ष बीत जाते हैं तब परमेश्वर की

इच्छा होती है कि संसार चक्र में फंसे हुये प्राणियों को विश्राम कराना चाहिये। तब वे ब्रह्मा को सृष्टि कार्य से रोक देते हैं और संसार को क्रमशः खींचकर अपने में मिला लेते हैं। इस समय शरीर की वृत्तियों का विरोध होकर आत्मा शरीर से पृथक हो जाते हैं। शरीर और इन्द्रियों के परमाणु बिखर कर पृथक २ हो जाते है। इस प्रकार जितने भी कार्य द्रव्य हैं उन सबका विच्छेदन होकर अपने २ कारणों में विलीन होने लगते हैं। प्रथम पृथ्वी फिर जल उसके पश्चात अग्नि और अन्त्य में वायु का विनाश होता है। इस प्रकार संसार को कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती है, इस अवस्था को संहार या लय (Dissolution) कहते है।

संसार के थके मांदे जीव इस प्रलय रात्री में सो जाते हैं, परन्तु इस प्रलय के समय भी मूल सत्ता का विनाश नहीं होता है। मूलभूत परमाणु अब भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं, क्योंकि परमाणु अजर अमर होते हैं। इसी प्रकार प्रलयकाल में भी आत्मा नष्ट नहीं होती है। वह अपने २ धर्माधर्म संस्कार युक्त बने रहते है, परन्तु अदृष्ट की गति का अवरोध होने के कारण वह तथा निश्चेष्ट भाव से रहते हैं। इनके अतिरिक्त काल, दिशा और आकाश का भी प्रलयकाल में विनाश नहीं होता है, ये भी ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

आयुर्वेद मत से सृष्टि तथा लय--

अव्यक्त अर्थात् पुरुषयुक्त मूलप्रकृति से महत्व (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है महत्व से अहंकार और अहंकार से क्रमशः तन्मात्रा रुप आकाश, वायु, तेज जल और पृथ्वी उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद इन्द्रियों को भौतिक मानता है इसीलिये इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न न होकर तन्मात्राओं से उत्पन्न होती है। इन तन्मात्राओं से स्थूल पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं अतः इन पंच-महाभूतों से युक्त सर्वाङ्ग सम्पूर्ण पुरुष अभिव्यक्त होता है। अर्थात् पूर्व अव्यक्तावस्था व्यक्त अवस्था में परिणित हो जाती है।

इस प्रकार यह पुरुष फिर प्रलय काल में आरम्भिक भूतों के कारण में लीन हो जाता है तथा अपने बुद्धि आदि भावों से भी रहित हो जाता है, यही मरण भी कहलाता है। इस प्रकार कार्य से कारण में लीन होना मृत्यु और कारण से कार्य में अभिव्यक्त होना जन्म कहा जाता है। वह जन्म और मृत्यु पुरुष के बन्धन काल तक चक्रवत् चलते रहते है, जब तक कि उसको मोक्ष प्राप्त नहीं हो जाता है।

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्धयाहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकार उपादत्ते यथा कमम्॥

ततः सम्पूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥
अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तदव्यक्ततां पुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत् परिवर्तते ॥ चरक शा० १-६५ ॥

साँख्य मतानुसार सृष्टि और लय–

साँख्य प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति मानता है । प्रकृति जड़ है अतः केवल प्रकृति सृष्टि कार्य नहीं कर सकती है । इसी प्रकार पुरुष स्वभावतः असंग और निष्क्रिय होने से स्वयं सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकता है अतः दोनों का संयोग आवश्यक है, पुरुष के सानिध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है । पहला विकार महत्तत्व है जो जगत की उत्पत्ति में बीज रुप है । इस तत्व को बुद्धि कहते है, पुनः महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है । सब विषय मेरे लिये हैं, में इस कार्य को करने का अधिकारी हूं । इस प्रकार जो लोक में अभिमान की भावना दिखाइ देती है वह अहकार है । गुणों की विषमता के कारण अहंकार तीन प्रकार का होता है—(१) सात्यिक (वैकृत) (२) राजस (तंजस्) (३) तामस (भूतादि) । राजस अहंकार चालक होता है इसी लिये अन्य दोनों को इसकी सहायता लेनी पडती है । इस प्रकार सात्विक अहकार से जिसको सहायता द्वारा ११ प्रकार की इन्द्रियाँ (मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय) उत्पन्न होती है ।

यह सांख्यकारिका के अनुसार है, विज्ञान, भिक्षु के मत में अहंकार से उत्पन्न हुये विकारों का क्रम इससे भिन्न है । उसका कथन है कि इन्द्रियों में मुख्यतः मन ही सात्विक है अतः सात्विक अहंकार से मन और राजस से दश इन्द्रियां उत्पन्न होती है तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राए उत्पन्न होती है । तन्मात्रा का तात्पर्य शब्द स्पर्श रुप, रस और गन्ध के सूक्ष्म रुपों से है । ये इतने सूक्ष्म होते है कि इनका प्रत्यक्ष योगीजन ही कर सकते है । हमारे लिये तो अनुमान के विषय हैं । अब शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है । शब्द तन्मात्रा के सहित स्पर्श तन्मात्रा से शब्द स्पर्श गुण वायु की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार तेज, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति भी पूर्वतन्मात्राओं के सहयोग से स्वकीय तन्मात्रा से होती है ।

इसी प्रकार प्रलय काल में सर्वप्रथम स्थूल पाँच महाभुतों का विच्छेदन होकर तन्मात्राओं में परिणित हो जाता है और तन्मात्राओं तथा इन्द्रियों का समावेश अहंकार में हो जाता है । अहंकार महत्तत्व में महत्तत्व प्रकृति में ही लीन हो जाते है ।

साँख्य परिणामवाद का समर्थक है, उनके मत में संसार में जो कुछ होता है वह सब परिणाम है, अर्थात संसार की प्रत्येक वस्तु प्रति क्षण बदलती रहती है बीज से अंकुर बनता है अंकुर से वृक्ष बन जाता है और वृक्ष से पुन: बीज बनता है इस परिणाम का हेतु गुणों का चल स्वभाव माना जाता है क्योंकि संसार की सभी वस्तुएं त्रिगुणात्मक हैं, इसीलिये उनमें भी परिवर्तन होता रहता है, यही परिणामवाद' है। यह परिणाम दो प्रकार से होता है—(१) सदृश परिणाम (२) बिसदृश परिणाम। जब तक वस्तु एक ही रूप में रहती है तब तक सदृश परिणाम होता है, जब बदलने लगती है तब विसदृश परिणाम कहलाता है, जैसे दूध जब तक दूध तब तक सदृश परिणाम है जब वह वही होने लगता है तब विसदृश परिणाम होता है। दूध की अवस्था में अन्तर हो जाता है इसीलिये ताजे दूध और देर तक रखे दूध में अन्तर हो जाता है। कारण जब कार्य की ओर प्रवत्त होता है तब विसदृश परिणाम होने लगता है। प्रवृंत परिणाम प्रलथ की अवस्था में भी होता है किन्तु उसे सदृश परिणाम समझना चाहिये।

गीता में सृष्टि का वर्णन---

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है, भगवान् सम्पूर्ण भूतों का सनातन-अविनाशी बीज है या अव्यय बीज है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और अन्त में फिर बीज में लीन हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व भगवान् उत्पन्न होता है और फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् के इस आविर्भाव काल को पौराणिक कल्पना से ब्रह्मा का दिन और तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं। गीता में अव्यक्त और महद् ब्रह्म शब्द प्रकृति के लिये प्रयुक्त हुये हैं।

सांख्य प्रकृति से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त को नहीं मानती है। गीता के अनुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। जड़ात्मिकता प्रकृति में जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है। इस प्रकार पशु, पक्षी आदि सब योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों का उत्पत्ति स्थान तथा बीज रखने वाला ईश्वर है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रकृति विश्व की मातृ स्थानीय तथा ईश्वर पितृ स्थानीय है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते॥ गीता ९-१०॥

साँख्य के अनुसार जगत् की कारण भूता अजन्मा प्रकृति 'अव्यक्त' है। परन्तु गीता में अव्यक्त और अक्षर का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परें, प्रकृति पुरुष

से ऊपर एक विशिष्ठ तत्व के लिये किया गया है, वह तत्व अजर ब्रह्म है: गीता में अचला प्रकृति को क्षर तथा कूटस्थ अधिकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है, किन्तु वह परम तत्व जो प्रकृति को अतिक्रमण करने वाला है तथा अक्षर से भी उत्तम है 'पुरुषोत्तम' कहा गया है।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम: ।
अतो;स्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ।। गीता १५-१८ ।।

अद्वेत वेदान्त मत---

साँख्य दर्शन के मत में सत्व, रज, तम रूप त्रिगुणात्मिका प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होकर जगत् की उत्पत्ति करती है। इस कार्य में उसको किसी चैतन्य रूप अध्यक्ष की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं होती है, परन्तु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है। साँख्य के अनुसार प्रकृति का सृष्टि रूप में परि-णित होना पुरुष की अपवर्ग की सिद्धि के लिये है। क्या यह कार्य कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है। दूसरी बात यह है कि बिना किसी चेतन के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। लोकानुभव बताता है कि चेतन पुरुषा-धिष्ठित होने पर ही लेखनी लेखन व्यापार में प्रवृत्त होती है। सारथी की अध्यक्षता में ही रथ में गति का अविर्भाव होता है तब अचेतन प्रकृति में प्रवृत्ति का उदय कैसे हुआ ? इसके उत्तर में साँख्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिये गाय के स्तन से स्वत: दुग्ध प्रवृत्त होता है, उस प्रकार अकेतन प्रकृति स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। परन्तु यह उदाहरण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है, जिसके हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान रहती है।

वैशेषिक सिद्धान्त है कि जगत् सूक्ष्म परमाणुओं के संघात से उत्पन्न होता है, जो तर्क की कसौटी पर सही नहीं उतरता है क्योंकि अचेतन परमाणु द्वयणुकादि में परिणित होकर जगत् की उत्पत्ति में कैसे समर्थ हो सकता है। वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् कार्य का नियामक मानते हैं। किन्तु अदृष्ट भी अन्ततोगत्वा अचेतन ही है। यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता मान लें तो उनमें सदा गति ही हुआ करेगी और उसका कभी विराम नहीं होगा, तब प्रलय का सिद्धान्त समाप्त हो जायेगा। अत: परमाणुओं को भी जगत् का उपादान मानना ठीक नहीं है।

वास्तववादी बौद्ध जगत् का समूहात्मक मानते हैं, आन्तरिक जगत् पञ्चस्कन्ध रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और वित्रान का संघात तथा वाह्य जगत् विभिन्न रूपात्मक परमाणु चतुष्टय का पुञ्जमात्र है। जगत् के सभी

पदार्थ क्षण स्थायी हैं, तब क्षणिक पदार्थों में कारणता कैसे सिद्ध हो सकती है कारण मानने के लिये पदार्थ को उत्पन्न होना तथा स्थित होना चाहिये। चेतन को अध्यक्षता मानने से भी यह मत सम्पन्न नहीं होता है, क्योंकि यदि चेतन स्थायी है तो क्षण बाद समाप्त होता है। यदि वह क्षणिक है तो कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है। ऐसी अवस्था में जगत् को संघातात्मक तथा क्षणिक मानना निराश्रय सिद्धान्त होगा।

नैयायिक आदि दार्शनिक ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण मानते हैं, उपादान कारण नहीं, यह मत भी संतोषजनक नहीं हैं। यदि ईश्वर जगत् की उत्पत्ति में निमित्त कारण है तो वह पक्षपाती है, क्योंकि संसार में कोई सुखी है कोई दुःखी है। इस वैषम्य का क्या कारण है? यदि कर्मानुसार विषमता मानी जाये तो ईश्वर का उपादानत्व भी अनिवार्य हो जायेगा। जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का कर्ता मानती है वही उसे उपादान कारण भी बताती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रियाकलापों का आविर्भाव किया करता है।

परन्तु अद्वैतवादी ईश्वर न तो शरीरी है न रागद्वेषादि भावों से युक्त है ऐसी दशा में केवल निमित्त कारण मानने से ईश्वर में जगत् कर्तव्य का सिद्धान्त ठीक नहीं बैठता है। अतः वेदान्त वाद्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त कारण दोनों बताता है। इस विषय में उपनिषद् मकड़े का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है, अर्थात् उन्हें अपने शरीर से बाहर फैलाती है और फिर उन्हें ग्रहण भी कर लेती है अर्थात अपने शरीर में ही मिलाकर अभिन्न बना देती है, उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादान कारण है तथा निमित्त कारण भी है। वेदान्त का यही निश्चित मत है, अतः जगत की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है इसमें सन्देह नहीं है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च, यथापृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथासतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥
(मुण्डक उपनिषद् १-१-७)

षड्दर्शन परिचय

भारतीय दर्शनों के दो विभाग किये हैं—आस्तिक तथा नास्तिक। आस्तिक वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करता है और नास्तिक उसे कहते है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास न करके उसकी निन्दा करे।

नास्तिको वेद निन्दक: (मनुस्म्रति)

वेदों को प्रामाणिक मानने से न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग की मीमाँसा तथा वेदान्त प्रधानत: आस्तिक दर्शन माने जाते हैं और वेद की प्रामाणिकता न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक धर्म माने जाते हैं। वहाँ हम उन शड्दर्शनोंन्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग, मीमांस वेदान्त का स्थूल परिचय दे रहे हैं।

न्याय दर्शन

इस दर्शन के रचियता का नाम गौतम 'गौत्र से' और व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। इनका समय विक्रमी पूर्व चौथी शताब्दि है। इसका इतिहास लगभग दो हजार वर्ष पुराना माना जाता है, इस दर्शन के प्रधान दो विभाग किये गये हैं— (१) प्राच्य न्याय या पदार्थ मीमांसा (कैटेगोरिस्टिक) (२) नव्य न्याय या प्रमाण मीमांसा (एपिस्टोमोलांजिकल)

न्याय का विवेचन-

प्रमाणों द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'न्याय' कहलाता है और प्रमाणों द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार क के प्रमाणों का भी विस्तृत विवेचन करना 'न्याय' दर्शन कहलाता है। इस दृष्टि से न्याय दर्शन का प्रमाण शास्त्र भी कहते हैं। संक्षेप में न्याय का प्रतिपादन करना न्याय दर्शन का विषय है।

न्याय का अर्थ है "प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्याय:" इस दर्शन में प्रमाणों की जो विस्तृत व्याख्या की गइ है। वह इतनी सुन्दर है कि अन्य शास्त्र भी कुछ परिवर्तनों के साथ इसे स्वीकार करते हैं। कुछ लोगो का कथन है कि इस दर्शन में गौतम ने शास्त्रार्थ में दूसरों को पराजीत करने के लिये जल्प, वितण्डा आदि का वर्णन किया है जो अनुपयुक्त ही प्रतीत होता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार अंकुरो की रक्षा के लिये वृक्ष पर कांटे होते है, उसी प्रकार नास्तिकों से इसकी रक्षा के लिये जल्प तथा वितण्डता आदि का वर्णन है।

इस दर्शन की तर्क प्रणाली तत्व ज्ञान से भी सुन्दर है जिसमें न्याय ने इस जगत् को ज्ञान से भिन्न एक स्वतन्त्र वस्तु माना है और आत्मा, मन, परमाणु आदि सभी नित्य माने हैं। वास्तव में दर्शन की श्रेष्ठता इसी में है कि

जो नित्य परमाणुओं को कारण रूप मानकर संसार को उसी का विस्तार बतावे। न्याय शास्त्र में ईश्वर को जगत् का निमित्ति कारण माना गया है। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से अनेक प्रकार के घटादि का निर्माण करता है। उसी प्रकार ईश्वर भी परमाणुओं से इस विचित्र जगत् की सृष्टि करता है।

न्याय ने आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों से पृथक् तथा नित्य मान कर बौद्ध एवं चर्वाक सिद्धान्तों का युक्ति पूर्वक खण्डन किया है और आत्मा को मुक्त मानकर मुक्तावस्था में अपने विशुद्ध रूप से सुख-दुखा:दि सभी गुणों से रहित बताया है।

न्याय दर्शन के सूत्रों पर 'वात्स्यायन' ने भाष्य की रचना की 'उद्योत कर' ने 'न्यायवार्तिक', 'वाचस्पति मिश्र' ने 'तात्पर्यटीका', 'जयन्तभट्ट' ने 'न्याय मञ्जरी', भासर्वज्ञ ने 'रत्नकीर्ति' उदयनाचार्य ने 'तात्पर्यपरिशुद्धि' तथा न्याय कुसुमाञ्जलि भी लिखी है। गंगेश उपाध्याय ने न्याय की प्राचीन धारा को पलट कर 'नव्य न्याय' को जन्म दिया है। इनकी रचना 'तत्वचिन्तामणि' न्याय के इतिहास में नवीन युग का प्रवर्तक है।

इनके अतिरिक्त रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, गदाघर भट्टाचार्य आदि अनेक न्य याचार्य हुए जिन्होंने न्याय शास्त्र का विशिष्ट विवेचन किया है।

वैशेषिक दर्शन

जिस प्रकार शब्द के यथार्थ निर्णय के लिये पाणिनीय व्याकरण है उसी प्रकार पदार्थों के स्वरूप निणय में वैशेषिक दर्शन अत्यन्त उपादेय माना जाता है। इस दर्शन का नाम वैशेषिक, कणाद तथा औलूक्य दर्शन है अन्तिम दोनों नाम इसके रचयिता उलूक ऋषि के पुत्र कणाद के नाम पर हैं। अर्थात् इस दर्शन के निर्माता महर्षि कणाद हैं। विशेष नामक पदार्थ पर विशिष्ट कल्पना करने के कारण इस दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा है। इसका रचनाकाल विक्रमी पूर्व तीसरी शताब्दि है, इसी लिये यह न्याय-दर्शन से भी प्राचीन है। इस दर्शन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति और धर्म की विवेचना करना है

वैशेषिक मतानुसार 'श्रेय: सिद्धि सधर्म:' अर्थात् जिससे सुख और मोक्ष की प्रवृत्ति हो वही धर्म है। जिस प्रकार महर्षि गौतम प्रमेय, प्रमाणादि सोलह पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष होना बताते हैं, उसी प्रकार महर्षि कणाद भी द्रव्यादि ६ पदार्थों के ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति मानते हैं।

वैशेषिक दर्शन के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(१) परमाणुवाद (२) अनेकात्मवाद (३) सत्कार्यवाद (४) परमाणु नित्यतावाद (५)

षड्पदार्थवाद (६) सृष्टिवाद (७) मोक्षवाद।

परमाणुवाद---

जगत् के मूल उत्पादक परमाणु हैं और भिन्न २ परमाणुओं से भिन्न भिन्न कार्य द्रव्य बनते हैं।

अनेकात्मवाद---

आत्मा अनेक हैं, अपने अपने कर्मानुसार फल का उपभोग करने के लिये उपयुक्त शरीर धारण करते हैं।

सत्कार्यवाद---

संसार में जो परमाणु हैं, उन्हीं से कार्य उत्पन्न होते हैं जो नहीं हैं उनकी सत्ता भी नहीं है। प्रत्येक कार्य का अपना उपादान कारण स्वतन्त्र होता है अतः सब परमाणुओं से सभी कार्य नहीं हो सकते हैं। कार्य की अव्यक्त अवस्था कारण और कारण की व्यक्तावस्था कार्य है, इसी को उत्पत्ति और विनाश भी कह देते हैं।

परमाणु नित्यतावाद---

परमाणु नित्य हैं, इनके अवयव नहीं होते हैं, इसी लिये इनका विनाश भी नहीं होता है। आत्मा, मन, आकाश आदि भी अवयव रहित होते हैं अतः यह भी नित्य है।

षड्पदार्थ वाद---

वैशेषिक मतानुसार पदार्थ ६ हैं—(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय।

सृष्टिवाद--

बिना कारण के कार्य नहीं होता है, जगत् भी एक कार्य है अतएव इसका कर्त्ता ईश्वर है तथा कारण परमाणु हैं। ईश्वर परमाणुओं की सहायता से संसार की रचना करता है।

मोक्षवाद—

कर्मों का फल होता है, प्राणिमात्र अपने २ कर्मानुसार फल भोगने के लिये शरीर ग्रहण करते हैं। जब तक कि सम्पूर्ण कर्मों के फल का उपभोग नहीं हो जाता है तब तक जीव का आवागमन चलता रहता है। उपभोग समाप्त होने पर आवागमन से छुटकारा मिल जाता है इसे मुक्ति कहते हैं

साँख्य दर्शन

इस दर्शन के निर्माता महर्षि कपिल हैं, इसका निर्माण काल ठीक-ठीक बताना सम्भव नहीं फिर भी सातवीं शताब्दि से पूर्व इसका निर्माण हो चुका था ऐसा माना जाता है। साँख्य नामकरण का रहस्य विवेक ज्ञान कारण है और दुःख निवृति कार्य है। इस ज्ञान को पारिभाषिक शब्दों में 'प्रकृति पुरुषान्यताख्याति' कहते हैं। इसी का दूसरा नाम संख्या=सम्यक् ख्याति= सम्यक् ज्ञान या विवेक ज्ञान है।

इस दर्शन की विशेषता है कि इसमें तत्वों का विवेचन अति सुन्दर ढंग से किया गया है। जिसके अनुसार पच्चीस तत्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर किसी भी आश्रम का पुरुष दुःखों से अवश्व मुक्त हो जाता है। इन तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

(१) कुछ तत्व स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होते हैं और दूसरों को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं जैसे अव्यक्त या प्रकृति।

(२) कुछ तत्व स्वयं उत्पन्न होते हैं किन्तु औरों को उत्पन्न भी करते हैं, जैसे प्रकृति-विकृति।

(३) कुछ तत्व स्वयं उत्पन्न होकर किसी अन्य तत्व को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, जैसे विकृति।

(४) एक तत्व ऐसा है जो न स्वयं किसी से उत्पन्न होता है और न किसी को उत्पन्न करता है, जैसे न प्रकृति न विकृति=पुरुष।

यह निश्चित है कि जब तक प्रकृति-पुरुष का पृथक २ ज्ञान नहीं होता है तभी तक इस भौतिक जगत की सत्ता है। इनका ज्ञान हो जाने पर इस दुःखशील जगत से आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है इसके अतिरिक्त साँख्य का कार्यकारणवाद अति सुन्दर प्रतीत होता है, जिसे आधुनिक विज्ञान भी उसी रूप में ग्रहण करता है। साँख्य द्वेतवादी है, उसकी सृष्टि में प्रकृति और पुरुष दो प्रकार के तत्व हैं। जिनके परस्पर संयोग से इस विराट जगत की उत्पत्ति होती है। बौद्ध जैन, न्याय तथा मीमाँसा में केवल एक मूल तत्व अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु माना है।

चरक सुश्रुत साँख्य मत का ही प्रतिपादन करते हैं, सांख्याचार्यों की एक मात्र सम्मति हैं कि जगत की रचना तथा कर्म के फल प्रदान आदि कार्यों के लिये ईश्वर की सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं हैं। चेतन पुरुष के कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थ मूलक होती है। विज्ञान भिक्षु के अनुसार सांख्य

निरीश्वरवादी नहीं है वह ईश्वर को जगत का कर्ता न मानकर जगत कार्य का साक्षी मानता है ।

साँख्य की पदार्थ मीमाँसा वैशेषिकों की तत्व मीमाँसा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होती है । सांख्य के मत में मुक्ति दो प्रकार की होती है— (१) जीवन्मुक्ति (२) विदेहमुक्ति । इनका वर्णन मोक्ष प्रकरण में हो चुका है ।

योग दर्शन

इस दर्शन की रचना महर्षि पतञ्जली ने की है, व्याकरण महाभाष्य और योग दर्शन दोनों के रचयिता पतञ्जलि ही हैं । इस दर्शन की रचना विक्रमी पूर्व दूसरी शताब्दी में हुई है, योग ही एक ऐसा दर्शन है जिसमें वाद-विवाद को कोई स्थान नहीं दिया गया है । वैसे योग का परिचय अन्य शास्त्रों तथा धर्मों में भी मिलता है किन्तु योग के दार्शनिक भाग का वर्णन जो राज योग के नाम से प्रसिद्ध है और जिसे पतञ्जलि ने बनाया है वह निम्न प्रकार से है ।

मन, बुद्धि आदि अन्त:करण की वृत्तियों को रोकना योग या समाधि कहलाता है । पतञ्जलि के अनुसार योग का अर्थ है 'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:' योग दर्शन में चित्त की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध तथा चित्त की वृत्तियाँ भी पाँच प्रकार की बतलाई गई हैं। जैसे—(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा और (५) स्मृति । योग दो प्रकार का होता है—(१) सम्प्रज्ञात (२) असम्प्रज्ञात ।

सम्प्रज्ञात—

जिसमें मन को किसी एक लक्ष्य पर केन्द्रित किया जाता है । इस अवस्था में चित्त को एकाग्र करने के लिए कोई न कोई अवलम्बन अवश्य होता है और इसमें उस वस्तु का ज्ञान बना रहता है, यह सम्प्रज्ञात योग है ।

असम्प्रज्ञात—

इसमें सब प्रकार की वृत्तियों का निरोध किया जाता है, अर्थात् इसमें कोई अवलम्बन नहीं होता है ।

योग प्राप्ति के आठ उपाय—

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि ।

यह निश्चित है कि जब तक आत्मा का मन तथा इन्द्रियों पर पूरा २ नियन्त्रण नहीं हो जाता है तब तक योग प्राप्ति नहीं होती है। इसीलिये मन इन्द्रिय तथा शरीर की शुद्धि के लिये उपरोक्त साधनों का प्रयोग किया जाता है। योग दर्शन में ईश्वर का स्थान बड़े महत्व का है। उसके अतिरिक्त साँख्य के समान योग भी २५ तत्वों को मानता है ईश्वर को स्वतन्त्र मानने से इसे ईश्वर साँख्य भी कहते हैं। योग शास्त्र के मत से ऐश्वर्य तथा ज्ञान की जो पराकाष्टा है वही ईश्वर है। योग गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह वेद का प्रथम उपदेश है।

मीमांसा दर्शन

यह अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है मीमाँसा का प्रयोग ब्राह्मण संहिता और उपनिषद् आदि कई स्थानों में मिलता है। यह दो भागों में विभक्त है—(१) कर्ममीमाँसा या पूर्वमीमाँसा (२) ज्ञानमीमाँसा या उत्तरमीमाँसा। मीमाँसा शब्द का प्रयोग केवल ज्ञान के लिये होता है। 'जैमिनी' इस दर्शन के सूत्रकार माने गये हैं पर इसके प्रथम प्रवर्तक नहीं, इनका काल विक्रमी पूर्व तीसरी शताब्दि से भी पीछे माना जाता है।

इस शास्त्र में भिन्न २ आचार्यों के भिन्न २ मत हैं, कुछ के मत से प्रमाणों की संख्या ६ है और कोई पाँच मानते हैं कुछ भी हो इस दर्शन का प्रधान उद्देश्य तो धर्म का प्रतिपादन करना है और धर्म के लिये प्रमाण वेद हैं। इसीलिये मीमाँसा ने वेद के स्वरूप एवं प्रामाणिकता को प्रदर्शित करने के लिये सुन्दर २ युक्तियाँ दी हैं। वेदों की नित्यता का प्रधान प्रमाण शब्द की नित्यता है। मीमाँसा ने वेद के पाँच नियम माने हैं—(१) विधि (२) मूंग (३) नामधेय (४) निषेध और (५) अर्थवाद।

पदार्थों की कल्पना में मीमाँसा ने आठ पदार्थ माने हैं, कुमारिलभट्ट के पदार्थों की संख्या केवल पांच मानी हैं। मुरारी मिश्र की कल्पना इन दोनों से भिन्न है उनका कथन है कि ब्रह्म भी एक परमार्थ भूत पदार्थ हैं। परन्तु भौतिक जगत की उत्पत्ति के लिये धर्म विशेष में केवल चार पदार्थ स्वीकार किये हैं। यह दर्शन जगत की मूल सृष्टि का आत्यन्तिक विनाश नहीं मानता है, केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं और विनाश को प्राप्त होते रहते हैं। कुछ मीमाँसक अणुवाद को मानते हैं जगत की प्रत्येक वस्तु अणु से उत्पन्न हुई है ऐसा मानते हैं।

ईश्वर के सम्बन्ध में भी मीमाँसकों के कई मत हैं, जैमिनी के मत से कर्मों का फल देने वाला ईश्वर नहीं है किन्तु कर्मों के अनुसार फल की प्राप्ति

स्वतः होती रहती है। कुछ आचार्य कर्मफल को ईश्वर का दिया मानते हैं। मोक्ष के महत्वपूर्ण विषय का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है और उन्होंने मोक्ष की परिभाषा इस प्रकार की है कि इस जगत के साथ आत्मा के सम्बन्ध विच्छेद का नाम मोक्ष है। प्रपन्च के इन बन्धनों ने आत्मा को बाँधा हुआ है परन्तु इस विवेचन में भी मीमाँसकों में पर्याप्त मतभेद हैं।

वेदान्त दर्शन

वेदान्त दर्शन के सूत्रों का निर्माण विक्रमी पूर्व छठी शताब्दी में हुआ है इस दर्शन के आचार्यों में श्रेष्ठ शंकराचार्य हैं। इस दर्शन के अनुसार जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण इस संसार में अनेक प्रकार के क्लेशों को भोगता रहता है। आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं केवल इसमें नानात्व का ज्ञान होना ही संसार है और एक ब्रह्म का ज्ञान ही मुक्ति है। अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति मोक्ष कहलाता है।

वेदान्त मत से ब्रह्म निर्विकल्पक, निर्विकार, उपाधि रहित सत्ता का नाम है, शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म के समर्थक हैं क्योंकि सगुण ब्रह्म आत्मा की सत्ता धारण करने के कारण परमार्थिक तत्व नहीं हो सकता है। अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र परमार्थ सत्तारूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत की मायिकता है।

वेदान्त मत से जगत की सृष्टि माया के आश्रय से होती है और ईश्वर जगत का उपादान कारण है। जिस प्रकार जादूगर अपनी माया शक्ति के द्वारा विचित्र कार्य करने में समर्थ होता है यही दशा ईश्वर की भी है माया का जादू उन्हीं को मोहित करता है जो उसके रहस्य को नहीं जानते हैं ठीक इसी प्रकार जगत अद्वेत सत्ता के अनभिज्ञ व्यक्ति के लिये अपनी सत्ता बनाये रखता है। परन्तु अद्वेत सत्ता तत्व के ज्ञानियों के लिये उसकी सत्ता निराधार व निर्मूल है, ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या मानने का सिद्धान्त अद्वेत कहलाता है। शङ्कराचार्य ने इसी मत का प्रतिपादन किया है और बौद्ध मत का खण्डन किया है।

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप के निर्णय करने के लिये २ प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—(१) स्वरूप लक्षण और (२) तटस्थ लक्षण स्वरूप लक्षण पदार्थ के सत्य ताष्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कतिपय कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है

ईश्वर विषयक निर्णय

ईश्वर सम्बन्धी विवेचन में न्याय का स्थान विशेष महत्व का है, न्याय आस्तिक दर्शन है। उसके अनुसार ईश्वर जगन्नियन्ता और कर्मफल दाता है। 'ईश्वर: कारणं पुरुषकर्माफल्य दर्शनात्' (न्या० सू० ४-१-१९) क्योंकि यदि कर्म के ही आधीन फल होता तो कर्म करने के साथ-साथ फल भी प्राप्त होता, लोग कर्म करते हैं किन्तु उनका फल तत्काल नही मिलता है। इससे विदित होता है कि कर्म फल प्रदान करने वाला कोई और ही है। यह फल जिसके आधीन है वही ईश्वर है, किन्तु केवल ईश्वर ही फल देने वाला हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती, बिना कर्म के भी ईश्वर फल देते हैं। परन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः ईश्वर ही फल का दाता नहीं है कर्म करना भी आवश्यक है संक्षेप में कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल प्रदान करता है अथवा ईश्वर कर्म और फल का सयोजक होता है।

ईश्वर जगत् पिता है, सृष्टि के सम्पूर्ण नियम उसकी अनन्त बुद्धि के परिचायक हैं। ईश्वर की सहायता बिना सृष्टि का उपपादन नहीं होता है। श्रुति प्रमाण द्वारा भी ईश्वर का सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा अनन्त ज्ञान का भण्डार होना सिद्ध है। उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जली में ईश्वर की सिद्धि अधो लिखित अकाटय युक्तियों से की है। जैसे—

(१) कार्यात्—संसार के सभी पदार्थ परमाणुजन्य अवयवयुक्त तथा अवान्तर महत्व विशिष्ट हैं। कार्य के लिए कर्ता की सत्ता माननी आवश्यक है। घट की उत्पत्ति बिना कुलाल के सम्भव नहीं है उसी प्रकार कार्य रूप इस जगत् की सृष्टि करने वाला कोई चेतन पदार्थ अवश्य होगा।

(२) आयोजनात्—उत्पत्ति के अवसर पर दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है। परन्तु जड़भूत परमाणुओं का परस्पर संयोग स्वतः नहीं हो सकता है। इसके लिए किसी चेतन पदार्थ की कल्पना नितान्त युक्तियुक्त है।

(३) धृत्यादे—तीसरी बात यह है कि इस संसार को धारण करने वाला भी कोई अवश्य है। इस सृष्टि जगत् का नाश प्रलय काल में होता है, अतः नाश के लिए भी विनाशकर्ता की आवश्यकता है।

(४) पदात्—इस संसार में अनेक प्रकार के कला-कौशल हैं, जैसे वस्त्र बनाना, घर की विशिष्ट सेवा करना आदि। इस सम्प्रदाय व्यवहार

के लिए एवं इसकी उत्पत्ति के लिए किसी ज्ञानवान व्यक्ति की कल्पना करनी पड़ती है।

(५) प्रत्ययतः—श्रुति हमारे लिए परम प्रमाण है, उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती है। श्रुति की इस प्रमाण श्रेष्ठता का क्या रहस्य है? यही कि यह सर्वशक्तिवान् सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा ही निर्मित है। श्रुति ज्ञान ईश्वर का परिचायक है।

(६) श्रुते—श्रुति स्पष्ट शब्दों में ईश्वर को प्रकट करती है, ईश्वर सब प्राणियों में छिपा हुआ है, सर्वव्यापी है, सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा है और वह सबका नियामक तथा रक्षक है। (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६-११) गीता में श्री कृष्ण ने भी अपने को जगत् पिता, माता, धाता, प्रभव, प्रलय और स्थान बतलाया है। (श्रीमद्भगवद्गीता ९-१७)।

(७) वाक्यात्—महाभारत आदि ग्रन्थों के रचियता के समान वेदों का भी कोई रचियता होना चाहिए।

(८) संख्याविशेषात्—द्वयणुक में परिणाम की उत्पत्ति परमाणुगत पारिमाण्डल्य से न होकर परमाणुगत संख्याद्वय से होती है, यह नैयायिकों का सिद्धान्त है। यह द्वित्य संख्या अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होती है जो चेतन व्यक्ति से ही निष्पन्न हो सकती है। अतः द्वयणुक की द्वित्य संख्या ईश्वर को सिद्ध करती है।

(९) अदृष्टात्—धर्म करने से पुण्य और अधर्म से पाप उत्पन्न होता है, धर्माधर्म का ही दूसरा नाम अदृष्ट है। अदृष्ट कर्मफल के उत्पादन में कारण माने जाते हैं। परन्तु जड़ अदृश्य में फलोत्पादन बिना चेतन के सम्भव नहीं हैं। अतः अदृश्य को फलवत्ता के लिए ईश्वर को मानना पड़ेगा। इन्हीं युक्तियों के आधार पर न्याय ईश्वर को सिद्ध करता है।

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यस्संख्याविशेषाच्च साध्योविश्वविदव्ययः। न्या० कु० ५-१॥

ईश्वर विषयक शंका—

यदि ईश्वर कर्ता होता तो वह शरीरयुक्त होता, किन्तु वेदोक्त प्रमाणों से ज्ञान होता है कि ईश्वर शरीर रहित है, तब वह कर्ता कैसे हो सकता है। क्योंकि जो अशरीर है वह कर्ता नहीं हो सकता है, जैसे आकाश। इसके समाधान में नैयायिकों का कथन है कि कर्तृत्व के लिए केवल तीन बातें आवश्यक हैं—(१) ज्ञान (Knowledge) (२) चिकीर्षा (Will)

आयुर्वेदीय

पदार्थ विज्ञान

आयुर्वेद का इतिहास

भाग -- २
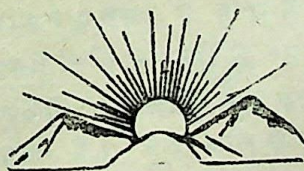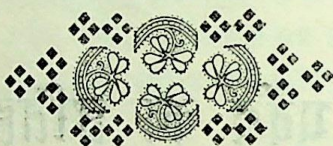
आयुर्वेद का इतिहास

किसी भी वस्तु का इतिहास उसके भूतकाल का वर्णन करता है (इतिX ह X आस) ऐसा निश्चय से था। वर्तमान अथवा भविष्य का नहीं इतिहास में बिती हुई सच्ची घटनाओं का उल्लेख होता हैं। यह उल्लेख महत्व पूर्ण होता है क्योंकि भविष्य तथा वर्तमान इन्हीं तत्वों के आधार पर टिका रहता है। इन घटनाओं का सही चित्रण करना इतिहास का कार्य है। इतिहास की प्रमाण सामग्री को घटाना या बढ़ाना अथवा मन माना सुधार करना इतिहास लेखक के लिये सम्भव नहीं हैं।

भारतीय इतिहास की उपलब्ध सामग्री में तिथि क्रम की दृष्टि से भारतीय इतिहास का प्रारम्भ बुद्ध काल में होता है। इससे पूर्व की सामग्री उपलब्ध तो है किन्तु उसमें तिथि क्रम नहीं है, इस प्रकार भारतीय इतिहास में प्रथम तिथि ६०० ई० पू० है, यह समय बुद्ध का था यहाँ से इतिहास की सामग्री क्रम बद्ध प्राप्त होती है। बुद्ध काल से पूर्व का युग ब्राह्मण काल है ब्राह्मण काल का अन्तिम साहित्य उपनिषद है। यद्यपि बुद्ध काल से पूर्व की सामग्री में सन् सम्बत् का उल्लेख नही मिलता किन्तु अन्य दूसरे प्रकार की सामग्री बहुत है। जिसके आधार पर सभ्यता का इतिहास लिखा जा सकता है। कई विद्वानों की मान्यता है कि भारतवर्ष में ८०० ई० पू० लेखन कला का

ज्ञान नहीं था परन्तु यह बात सबको मान्य नहीं जो भी हो इतना अवश्य सम्भव है कि लिपि से पूर्व साहित्य बन चुका था गुरु शिष्य परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप में ही इसकी रक्षा होती रही, इसीलिये वेद को श्रुति कहते हैं। उस समय के विद्वान चलते फिरते पुस्तकालय थे। भारतीय इतिहास को लिपि बद्ध करने में पाणिनीय की अष्टाध्यायी रामायण, महाभारत और पुराणों का अधिक महत्वपूर्ण योग रहा पुराणों के अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, विनय पिटक आदि ग्रन्थ भी चिकित्सा की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के काव्य विशेषत: अश्वघोष, कालिदास तथा बाण की रचनायें आयुर्वेद के लिये विशेष महत्व रखती हैं। भारतीय साहित्य के अतिरिक्त विदेशी साहित्य भी कम महत्व का नही है, इसमें विदेशी लेखकों के तथा यात्रियों के वृतान्त हैं। यात्रियों में चीनी तिब्बती ग्रीक आदि हैं। इन यात्रियों में प्राचीनतम ग्रीक लेखक हिरोडोटस (४८४ से ४२५) ई० पू० हैं। सम्राट आर्ट जैक्सस मेमन के राजवैद्य टेशियन ने भी भारत के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। सिकन्दर के कई साथियों के सम्राट सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में वर्षों तक रहा था उसने अपनी पुस्तक 'इन्डिया' में भारत के विषय में बहुत कुछ लिखा। चीनी साहित्य भी इस ओर मदद करता है, चीनी साहित्य में फाहियान (३९९-४१४ ई०) युवानच्वाँग (६२९-६४५ ई०) इत्सिंग (६७५-६९५ ई०) के वृतान्त महत्वपूर्ण हैं, मुश्लिम पर्यटकों में अलबरुनी मुख्य है, यह संस्कृत का असाधारण पण्डित था। इसकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, महमूद के आक्रमणों में यह उसके साथ था।

पुरातत्व सामग्री शिला लेख

जहाँ पर साहित्यक सामग्री नहीं मिलती वहाँ शिला लेखों से बहुत सहायता मिलती है, ऐसे कई शिला लेख ईसा से पाँचवी शती

तक के है, अधिकतर ये लेख ब्राह्मी लिपि में हैं यह लिपि बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी इनमें अशोक के लेख और महत्व लेखों की भाँति ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक के शिलालेख सिक्के, इमारतें, भी महत्व पूर्ण हैं।

वैदिक साहित्य

वेदों में आयुर्वेद

वेदों के मन्त्रों में देवता वाद है प्रत्येक सूक्त का कोई देवता होता है। इस प्रकार अग्नि जल आदि देवताओं के समान रुद्र, इन्द्र जी देवता हैं उनके साथ ही अश्विनौ भी देवता हैं। ये स्वर्ग के वैद्य माने जाते हैं। ये काय चिकित्सा यथा शल्य चिकित्सा दोनों के पारङ्गत थे। क्योंकि आयुर्वेद के आठ अंगों में ये दो अंग प्रधान हैं सम्भव है इन अंगों में पारङ्गत व्यक्ति को अश्विनौकी उपाधि प्रधान की जाती रही हो जिस प्रकार कि घोड़ों की चिकित्सा करने वाले को शालिहोत्र कहा जाता है, शल्य चिकित्सक को धन्वतरि कहते हैं और काय चिकित्सक को चरक या अत्रिशब्द से सम्बोधित करते हैं ऐसे ही अश्विनौभी एक संज्ञा हो सकती है। आयुर्वेद परम्परा में प्रजापति तथा प्रजापति से अश्विनी ने अश्विनीकुमारों से इन्द्र ने और इन्द्र से भार द्वाज ने आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया देवताओं में ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र किसी ने भी चिकित्सा कार्य नहीं किया। यद्यपि चरक में ब्रह्मा तथा इन्द्र से सम्बन्धित योगों का वर्णन है परन्तु चिकित्सा कार्य का सम्बन्ध केवल अश्विनी कुमारों से ही है। ये देवताओं के चिकित्सक होने से सूक्तों के देवता माने जाते हैं।

ऋग्वेद में आयुर्वेद

यद्यपि अन्य वेदों में भी आयुर्वेद का वर्णन है तथापि ऋग्वेद सबसे प्रथम माना जाता है, इसमें सामान्यत: प्राकृतिक वस्तुओं से स्वास्थ्य प्राप्ति का निर्देश मिलता है परन्तु औषधियों में वनस्पतियों का ही उल्लेख है। जो पृथक-२ रुप में हैं दो या अधिक औषधियों का मिश्रण नहीं पाया जाता सम्भव है यह ज्ञान प्रारम्भिक था क्योंकि उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में औषधियों का उपयोग मिश्रण रूप में मिलता है। ऋग्वेद में आयुर्वेद के आचार्यों का भी उल्लेख है आयुर्वेद के ऐसे आचार्य मुख्यत: दिवोदास और भारद्वाज है। इन्हीं से शल्य और काय चिकित्सा का प्रचार पृथ्वी पर हुआ, लोहे की टांग जोड़ने का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।

जैसे—चरित्रं हिवेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परित क्यायाम्।
सद्योजधामायसी विषपलायै घनेहिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥
ऋ. १।१७६।१५

इस मन्त्र में एक सेवक अश्विनी कुमारों से प्रार्थना करता है कि मेरे स्वामी की पत्निकी टाँग टूट गई हैं लोहे की टाँग लगा दीजिये।

चक्षु दान-ऋजाश्व को उसके पिता वृषगिर ने शाप देकर अन्धा कर दिया था अश्विनौ ने उसे फिर चक्षु प्रदान की ऋग्वेद में च्यवन ऋषि का पुन युवा बनाने का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में जहाँ चिकित्सा, प्रसूति चिकित्सा, सूर्य किरणों द्वारा चि०, वायु चिकित्सा मानस चिकित्सा आदि चिकित्साओं का वर्णन मिलता है।

यजुर्वेद में आयुर्वेद

यजुर्वेद के दो भाग हैं। एक तैत्तरीय शाखा और दूसरी वाजसनेयी शाखा। इनका सम्बन्ध मुख्यत: कर्म काण्ड से है।

औषधिसूक्त—यजुर्वेद में औषधियों के लिये अनेक मन्त्र मिलते हैं जिससे स्पष्ट है कि औषधियों का उपयोग यक्ष कर्म तथा स्वास्थ्य के लिये विशेष होता था। इसमें औषधियो की अनेक प्रार्थनायें की गई थी जैसे औषधियाँ जो तीन युगों से पहले उत्पन्न हुई उन भरण पौषण करने वाली औषधियों के अनेक स्थान हैं, हे माता औषधियों! तुन्हारे अपरिमित जन्म स्थान हैं, तुम्हारे कर्म भी असख्य है इसलिये तुम मुझ को भी रोग रहित करो।

यजुर्वेद का यह भी उपदेश है कि औषधियों को केवल नाम या रूप से जानने का कोई महत्व नहीं, नाम और रूप से तो औषधियों को जंगल में गाय-भेढ़ चराने वाले चरवाहे भी जानते हैं परन्तु जो इनका उपयोग गुण दोष के अनुसार जानता है वही सच्चा चिकित्सक हैं। चरकने भी यही उल्लेख किया है इसके अतिरिक्त यजुर्वेद में दिव्य वैद्य का लक्षण बताया गया है कि जो रोगों को जड़ से उखाड़ देता है राक्षसों (जीवाणु) को मार सकता है वही दिव्य मिषक् हैं।

कम न होने वाले, सदा वढ़ने वाले रोग बीजों को नष्ट भ्रष्ट करने वाला और सब प्रकार के राक्षसों (जीवाणुओं) को अधोमार्ग से निकालने वाला उपदेशक प्रथक दिव्य वैद्य है। (यजु० १६।५)

अथर्ववेद में आयुर्वेद

अथर्ववेद में आयुर्वेद का विषय विस्तार से आया है। अथर्ववेद का सम्बन्ध ही आयुर्वेद उपाङ्ग से है।

कृमि विज्ञान—अथर्ववेद में विभिन्न प्रकार के अनेक कृमियों की जातियाँ उनसे होने वाले रोग तथा उनको नष्ट करने का उपाय बताया

गया हैं जैसे अन्त्रकृमि शिर पुष्ट, अन्न पानदि से प्रविष्ट होने वाले कृमि आदि को मारने के लिये प्रार्थनायें एवं उपाय बताये गये हैं।

अथर्ववेद में वनस्पतियां--इसमें कुछ वनस्पतियों का नाम से भी उल्लेख है जैसे पिप्पली, अपामार्ग पृश्निपर्णी माँस रोहिणी आदि, अपामार्ग का विशिष्ट वर्णन है इसको देहात में चिरचिटा या ओंधा कहते हैं। यह इसका विशेष गुण है। शिरोविरेचनीय द्रव्यों में अत्रिपुत्र ने अपामार्ग को ही श्रेष्ट बताया है पुत्रोत्पत्ति के लिये भी अपामार्ग का उपयोग आयुर्वेद ग्रन्थों में मिलता है।

रोगों में किलास, कुष्ट रोश नाशक उपाय, केशढ़ाने का उपाय क्लीबत्व नाशक उपाय, हृदय रोग, कामला, मूढ़ गर्भ अश्मरी मूत्राधात आदि रोगों को चिकित्सा का वर्णन विशेष रूप में हैं। इस प्रकार विविध रोगों के नाम तथा उनको दूर करने का उपाय विस्तार से लिखा गया हैं। शरीर के अगों का वर्णन रक्त संचारादि क्रियाओं का भी उल्लेख हैं।

अथर्व चिकित्सा--अथर्व ऋषि ने इस चिकित्सा को कहा यह चिकित्सा चार प्रकार की है, आथर्वणी २ आँगिरसी ३ दैवी, ४ मानुषी। इनमें आथर्वणी का जप, होम, दान से सम्बन्ध है, आंगिरसी चिकित्सा मानसिक शक्ति से सम्बन्ध रखती है दैवी वायु जल, पृथ्वी आदि से और मानुषी, औषधियों से सम्बन्धित है।

अथर्ववेद में बात, पित्त, कफ का भी विस्तार से भेदों सहित वर्णन मिलता है।

उपनिषदों में आयुर्वेद

उपनिषद का अर्थ समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करना है।

मुण्डक उपनिषद में कहा गया हैं कि गुरू के पास हाथों में समिधा लेकर पहुचे। तब गुरू उसको ब्रह्म ज्ञान देता है,

ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष हैं। परा में ब्रह्मज्ञान है जिससे ब्रह्म जाना जाता है। उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्मज्ञान ही है। जैसे सन्नत्कुमार के पास जाकर नारद का ज्ञान प्राप्त करना, प्रजापति के पास इन्द्र तथा विरोचन का जाना, जनक का बहु दक्षिणा वाले यज्ञ में सर्वश्रेष्ट ब्रह्मज्ञानी का पता लगाना आदि।

भारतीय आध्यात्मवाद के देदीप्यमान रत्न उपनिषद हैं। उपनिषदों की संख्या दो सौ तक है किन्तु इनमें मुख्य ग्यारह हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, एतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, और श्वेताश्वतर।

ब्रह्मज्ञान का आधार शरीर है, इसलिए शरीर धारण करने वाले अन्न के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर उल्लेख है, जैसे अन्नं न निन्द्यात–तदव्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरे प्राण: प्रतिष्ठित: शरीरेप्राण: प्रेतिष्टित:।

(तैत्तरीय उपनिषद्)

अत्रिपुत्र ने अन्न पाचन के सम्बन्ध में रस से गुड़ बनाने की प्रक्रिया से सम्बन्ध बताया है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म तीन प्रकार से अन्न का पाचन भी होता है, तथा अन्त में रस और किट्ठ दो भागों में विभक्त हो जाता है।

पामारोग– छान्दोग्य उपनिषद् में रैक्व की कथा है जानश्रुति रैक्व के पास ज्ञानेच्छा से जाता है रैक्व ने उसको पामारोग से ग्रस्त देखा ? पामा कुष्ट का एक भेद है।

घोड़े का शिर लगाना

आथर्वण ऋषि ने मधु विद्या का उपदेश अश्विनौ को दिया अश्विनो ने दधीचि ऋषि को दिया। इस उपदेश परम्परा में एक कथा है कि आथर्वण ने यह वि[illegible] अपने मुख से नहीं दी थी, क्योंकि आथर्वण को कहा गया था कि

इस विद्या का यदि तुम उपदेश करोगे तो तुम्हारा शिर गिर जायगा इसलिए अश्विनौ ने आथर्वण का सिर काटकर घोड़े का सिर जोड़ दिया था, उपदेश के पश्चात् वह सिर गिर पड़ा फिर अश्विनौ ने उसका असली सिर जोड़ दिया। यज्ञ का सिर भी अश्विनौ ने ही जोड़ा था।

हृदय की क्रिया का वर्णन—हृदय में तीन अक्षर हैं। हृका अर्थ आहरण करना है। 'द' सम्पूर्ण शरीर को रक्त देना, 'य' सम्पूर्ण शरीर क्रियाओं का नियमन करना।

चरक के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में उल्लेख होने से विदित होता है कि 'चरक' शब्द बहुतों के लिए आता है जो लोग घूमते फिरते रहते हैं उन्हें चरक कहा जाता है वैसम्पायन के अन्तेवासी भी चरक कहलाते थे। अत: चरक भी ऋषियों का एक भेद है। चरक के भिन्नवाद भी श्वेताश्वतर उपनिषद के समान हैं जैसे स्वाभावमीश्वर कालं आदि।

चरक संहिता में भिन्न-२ परिषदों का वर्णन भी उपनिषदों में मिलता है। किसी विषय का निर्णय करने के लिए उपनिषद काल में भी परिषदें बुलाई जाती थीं।

अथववेद में आयुर्वेद का पूर्ण विवरण हो जाने से सम्भवत: उपनिषदों ने आयुर्वेद का विशेष वर्णन नहीं किया किन्तु फिर भी उपनिषदों में आयुर्वेद के विचारों की छाया दीखती है।

रामायण तथा महाभारत काल

रामायण तथा महाभारत के समय के विषय में इतिहास के पंडितों तथा अन्य श्रद्धालु विद्वानों में मतभेद है श्रद्धालु विज्ञान उपलब्ध रामायण और महाभारत को पाँच हजार वर्ष से भी पहले का मानते हैं उनकी दृष्टि में ये त्रेता और द्वापर की रचनायें है। परन्तु इतिहास की दृष्टि से ग्रन्थ इतने प्राचीन नहीं दिखते उनकी मान्यतानुसार रामायण का समय ईशा से ५००

वर्ष पूर्व माना गया है। क्योंकि रामायण में कोशल प्रदेश की राजधानी अयोध्या का ही वर्णन है जबकि बुद्ध के समय इसका नाम साकेत हो गया था, तथा बौद्ध काल के प्रसिद्ध पाटलि पुत्र का नाम रामायण में नहीं आता महाभारत में रामोपाख्यान है इसलिए, रामायण महाभारत से पहले का ग्रन्थ है। रामायण संस्कृत का आदि काव्य कहा जाता है अत: रामायण पिछले काव्यों नाटकों का आदि श्रोत है, कालिदास और अश्वघोष ने इसी से प्रेरणा ली, रामायण में प्रसंगवश चिकित्सा सम्बन्धी कुछ वचन मिलते हैं जो विशेषकर शल्य चिकित्सा से सम्बन्ध रखते हैं।

रामायण में तेल द्रोणी तथा वनस्पतियों का वर्णन आया है भारतीय प्रथा में वस्तुओं को सुरक्षित रखने का उपाय तल और मधु है, राजा दशरथ के शव को भी भरत के आने तक तेल में ही सुरक्षित रखा गया था।

(वा० रा० अयो०)

वनस्पतियों में कुटज, अर्जुन, कदम्ब, सर्ज, नीम, सप्तच्छद, अशोक, कोविदार आदि प्राचीन नाम रामायण में मिलते हैं, आसव तथा मधुशाला रामायण में रावण की मधुशाला का वर्णन है, मधुशाला का वर्णन अष्टाङ्ग संग्रह में भी है, इसमें मद्य और मास का सम्बन्ध भी बताया गया है।

रामायण के युद्ध काण्ड में औषधि पर्वतानयन अध्याय है जिसमें हनुमान औषधिपर्वत को ही लंका में ले आये थे। वैद्य शब्द रामायण काल से ही प्रचलित है इससे पूर्व भिषक् शब्द का प्रचार था।

—०—

महाभारत में आयुर्वेद साहित्य

ब्राह्मण उपनिषदों में महाभारत का नाम नहीं आता कुरुक्षेत्र की मुख्य घटना का उल्लेख किसी वैदिक साहित्य में नहीं है। परीक्षितपुत्र जनमेजय और शकुन्तला पुत्र भरत का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है आयुर्वेद के ग्रन्थों में यत्रतत्र कुरु-पाँचाल तथा विचित्रवार्य के पुत्र युधिष्ठिर के यज्ञों का

वर्णन मिलता है। परन्तु समस्त वैदिक साहित्य में पाण्डु, दुःशासन, युधिष्ठिर, दुर्योधन, कर्ण आदि प्रमुख पात्रों का नाम नहीं मिलता इससे स्पष्ट है कि महाभारत की रचना वैदिक काल के पीछे और बौद्ध साहित्य से पूर्व हुई। इसलिए ईशा से ४०० वर्ष पूर्व का इसका अस्तित्व माना जाता है।

पाणिनी को महाभारत का ज्ञान था पाणिनी का समव ई०श० ४०९ है। महाभारत में अश्विनौ का उल्लेख है, आयुर्वेद के आठ अंगों का वर्णन जैसे शल्य, शालाक्य, काय चिकित्सा, कौमार भृत्य भूत विद्या, रसायन वाजीकरण, विषतन्त्र विस्तार से है। दुर्योधन ने भीम को विष दे दिया था उससे मूर्च्छित होकर भीम नदी में गिरा दिया वहां साँपों ने उसे काटा जिसमें उसका विष नष्ट हो गया। इस प्रकार महाभारत में स्थावर विष को जङ्गम विष नष्ट करता है यह उल्लेख है। सेना के साथ वैद्यों का उल्लेख महाभारत में मिलता है संजीवनी विद्या के सम्बन्ध में म० भा० के आदि पर्व में ययाति का चरित्र वर्णन आता है जिसमें वृहस्पति ने अपने पुत्र को शुक्राचार्य के पास संजीवनी विद्या सीखने भेजा दानवों ने कचको मारने का प्रयत्न किया किन्तु देवयानी के प्रयत्न से कचको शुक्राचार्य ने बचा लिया और संजीवनी विद्या सिखा दी, संजीवनी विद्या से यह ज्ञात होता है कि यह मृत व्यक्ति को जीवित करने का ज्ञान था इसका यथार्त रूप क्या था अज्ञात है।

पाणिनीय व्याकरण में आयुर्वेद साहित्य

पाणिनीय व्याकरण अपने समय के इतिहास पर कुछ प्रकाश डालता है। इसमें कुछ शब्द ऐसे हैं जिनसे आयुर्वेद साहित्य का पता चलता है, जैसे रोगों के नाम आदि। चरक संहिता में आये जनपद आदि शब्दों का अर्थ पाणिनीय व्याकरण से ज्ञात होता है यह स्थिति महाभारत काल के पीछे तथा बुद्ध से पूर्व की है, इसलिए यह कहना उचित होगा कि पाणिनीय का काल ५०० ई० पूर्व के लगभग बाद का है। सूत्रकाल में भारत अनेक जनपदों में विभक्त था, काशिकर कार ने ग्रामों के समुदाय को जनपद कहा है।

पाणिनि ने चरक के अनुसार शिष्य तीन प्रकार के बताये हैं माणव, अन्तेवाशी और चरक (बिना उपनयन, उपनयन के बाड़, चलने फिरने वाले) अष्टाध्यायी में कुछ रोगों के नाम मिलते हैं जैसे सिध्मादिम्यश्ना से सिध्मल: अर्श आदिम्योऽच् से अर्शस:'लोमादि पामादि पिच्छादिम्य: शनेलच्, से पामन: शब्द बनता है। इसके अतिरिक्त रोगों के नाम भी सिद्ध किये गये हैं जैसे प्रवाहिकात: कासत: छर्निकात: तथा विषमज्वर के लिये द्वितीयक: चतुर्थक आदि भी है त्रिदोष का वर्णन आचार्यों के नाम जैसे गर्गा दिक्योयञ के गर्गादिगण में जतुकर्ण, पराषर, अग्निवेश शब्दों का उल्लेख है "कथादिम्यष्टक" के कथादि गण के आयुर्वेद शब्द से तत्र साधुः इस अर्थ में आयुर्वेदिक शब्द निष्पन्न हुआ है। इस प्रकार ईशा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व भी इस ज्ञान का उल्लेख मिलता है।

—(०)—

बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

भारतवर्ष का तिथि क्रम के अनुसार श्रृंखलावद्ध इतिहास इसी समय से मिलता है। इस समय देश की स्थिति वैदिक काल से बदल चुकी थी, महाभारत काल का सार्व भौम शासन टूट चुका था उस समय देश सोलह जनपदों में दिभक्त हो गया था इसमें चार राज्य मुख्य थे, (१) मगध, जिसमें अग भी शामिल था इसका राजा बिम्बसार था। (२) कौशल, जिसकी राजधानी श्राबस्ती थी इसमें काशी भी सम्मिलित थी इसका राजा प्रसेन जित था (३) कोशाम्बी, इसका राजा वत्सराज उदयन था (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्ड ब्रद्योत था, इस काल के प्रसिद्ध चिकित्सक जीवक का सम्बन्ध मगध के राजा बिम्बसार और अवन्ती के राजा चण्ड प्रद्योत के साथ था।

आयुर्वेद साहित्य--

क्योंकि बौद्ध धर्म का प्रचार भारत से बाहर दूर तक हुआ जिसमें मध्य एशिया से प्राप्त "नावनीतकम्" पूर्ण रूप से आयुर्वेद की रचना है। इसमें

लहसुनकल्प है जो अष्टाङ्ग संग्रह के लहसुन कल्प से मिलता है । इसके अतिरिक्त सद्धर्म पुण्डरीक भी है जो चीन, जापान में पवित्र ग्रन्थ माना जाता है। तीसरा मुख्य ग्रन्थ 'विनयपिटक' है इसका मुख्य सम्बन्ध आयुर्वेद साहित्य से है। इस ग्रन्थ में बात व्याधि के लिये चार प्रकार के स्वेदों का वर्णन आया है, इन्हीं स्वेदों का नामान्तर से चरक में उल्लेख है। बौद्ध काल से लेकर आज तक किसी भी चिकित्सक का ऐसा इतिहास नहीं मिलता जैसा कि जीवक का है। जीवक कीं आयुर्वेदीय शिक्षा तक्ष शिला में सम्पादित हुई थी सात वर्ष निरन्तर अध्ययन कर जीवक वापस लौटा तो उसने अनेक कठिन रोगियों की चिकित्सा की जो सफल रही जीवक ने बिम्बसार, चण्ढ प्रद्योत आदि राजाओं की भी चिकित्सा की, वास्तव में यह काल आयुर्वद साहित्य का पूर्ण योवन का काल था, उस समय लोग यहां पर आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र के अध्यन के लिए आते थे।

मस्तिष्क का शल्प कर्म जिस चतुरता से सफलता पूर्वक इस युग में हुआ वैसा आज २०वीं सदी तक भी पूर्ण सफलता के साथ नहीं हो पाया इसलिए इस समय को आयुर्वेद का मध्याह्न काल कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

स्मृति और पुराणों में आयुर्वेद साहित्य

प्राचीन आख्यान के लिए पुराण शब्द आता है। इन आख्यानों का ही प्रभाव हिन्दु धर्म पर पड़ा पूराणों का महत्व धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टि से अधिक है।

चिकित्सा के इतिहास की दृष्टि से भी इनका महत्व है, जैसे गरुड़ पुराण में कई श्लोक चरक सुश्रुत से संग्रहीत हैं।

अलबरूनी ने जोकि १०३० ई० में भारत आया था अट्ठारह पुराणों की सूची दी है। शंकराचार्य ने नवीं शताब्दी में, कुमारि लभट्ट ने ८वीं शताब्दी में

पुराणों का उल्लेख किया। बाण ने (३२० ई०) कादम्बरी में पुराण का उल्लेख किया, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इनका उल्लेख है।

चिकित्सा विषय

ब्रह्मवैवर्तपराण, ब्रह्म खण्ड में आयुर्वेद की उत्पत्ति का निम्नलिखित वर्णन मिलता है। जैसे ब्रह्मा ने आयुर्वेद का ज्ञान भास्कर को दिया। भास्कर ने अपने १६ शिष्यों को आयुर्वेद पढ़ाया उन्होंने स्वतन्त्र ग्रंथ बनाये। इनमें न इन्द्र का नाम है न भारद्वाज का, इसमें धन्वन्तरि दिवोदास आदि काशिराज ये तीनों भिन्न व्यक्ति बताये गये हैं, जबकि उपलब्ध सुश्रुत सहिता में ये तीनों नाम एक ही व्यक्ति के लिए आये हैं अग्निपुराण में सिद्धौषध, सर्वरोग हर औषध, वृक्षायुर्वेद मृत संजीवनीकर योग, गज चिकित्सा, अश्व चिकित्सा आदि हैं, अग्निपुराण के कई योग उपलब्ध आयुर्वेद संहिताओं में मिलते हैं। धातुओं का भस्म के रूप में उपयोग भी अग्निपुराण में मिलता है।

स्कन्द पुराण में आरोग्यशाला (चिकित्सालय) उप करण सम्पन्न बनाने का वर्णन है जैसे, आरोग्यशाला य: कुर्यात् महावैद्य पुरस्कृताम्
सर्वोपकरणोपेतांतस्स्य पुण्य फलं श्रृणु ।।

इसके अतिरिक्त वैद्य के गुणों का वर्णन औषध ग्रहण काल रसवीर्य विपाकादि का भी विस्तृत विवेचन मिलता है।

———o———

मौर्यकाल में आयुर्वेद साहित्य

इस काल से सम्बन्धित मुख्य साहित्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र और अशोक के शिलालेख हैं, सिकन्दर के आक्रमण के समय देश भिन्न-२ राज्यों में विभक्त था, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कई पर्वतीय राजा थे। इनमें तक्षशिला जोकि बौद्ध काल में भी विद्या का बड़ा केन्द्र था, यहां के राजा ने सिकन्दर के

दूत के आने पर उससे सन्धिकर ली थी उसनें अपने पुत्र आम्भि को बुखार में ही सिकन्दर से सन्धिकर सहायता का वचन दे दिया था क्योंकि तक्ष शिला के राजा की पड़ोसी राजा पोरस से दुश्मनी थी अत: वह चाहता था कि अक्रान्ता से मिलकर उसे कुचल दूं, पोरस का राज्य झेलम और रावी के बीच में था। पोरस ने सिकन्दर से सन्धिकर उससे लोहा लेना चाहा रावी पार के कठों ने इसका साथ नहीं दिया।

इस प्रकार अष्टक, अश्वक, आयुधजीवी, कठ क्षुद्रक, मालबक आदि छोटे-२ राज्य थे इनके साथ लड़ते हुए सिकन्दर की सेना थक गई इसलिए उसने व्यास में आगे बढ़ना स्वीकार नहीं किया। यहां इतना और ध्यान रखना है कि इन राज्यों में से एक बड़ा मार्ग था जो काबुल से लेकर सीधा भगध तक पहुंचता था मगध में नन्दों का बड़ा राज्य था। यह महा पथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तान को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियों को जाता था, किन्तु गान्धार की पहाड़ी सीमा के रास्तों का कोई ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता उस समय गान्धार की राजधानी पुष्कलावती थी पेशावर की नींव सिकन्दर ने इसके ४०० वर्ष बाद डाली बलख हरा-भरा फल फूलों वाला देश है कौटिल्य मार्ग के बलख से लेकर तक्ष शिला तक के मार्ग हैं मवत पथ कहा है, बलख से लेकर तक्ष शिला तक के रास्ते का वर्णन बौद्ध साहित्य में मिलता है, महाभारत में अर्जुन के दिगविजय में इसका वर्णन है, उत्तर कुरु भी इसी मार्ग पर था तक्ष शिला से जनपथ काशी और मिथिला तक चलता था जीवक तक्ष शिला से भद्रंकर, उदुम्दर, और रोहितक होता हुआ मथुरा पहुंचा था, भद्रंकर (स्याल कोट) उदुम्बर (पठानकोट) रोहितक (आजकल के रोहतक है) तक्षशिला का वैभव इस समय भी कम नहीं हुआ था चाणक्य यहीं का छात्र तथा बाद में यहों का अध्यापक हुआ जीवक के गुरु अत्रेय यहीं के अध्यापक थे, इसी तक्ष शिला में चन्द्र गुप्त विद्याध्ययन के लिये आया था। चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित मौर्य वंश में आयुर्वेद सम्बन्धित घटना को मारा था,'विषकन्या तथा विषाक्त भोजन की है, विषकन्या द्वारा चाणक्य ने पर्वतेश्वर चाणक्य ने जब एक छत्र राज्य बनाया तो तक्ष शिला का इलाका लेने के लिए भी आक्रमण किया। उस समय सिकन्दर के उत्तरा-

धिकारी सिल्यूकस के साथ युद्ध हुआ जिसमें सिल्यूकस हार गया तब सिल्यूकस ने चन्द्र गुप्त को कन्धार, काबुल की घाटी और बिलोचिस्तान दे दिया था, इसी में कन्ध हार की राजधानी तक्ष थी, चन्द्रगुप्त के राज्य काल का वर्णन मैंगस्थनीज ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया' में किया है। इसी में भारतीय चिकित्सकों की प्रशंसा करते हुये मैंग स्थनीज ने कहा कि वे औषधियों द्वारा इच्छानुसार नर अथवा मादा बच्चे पैदाकर सकते हैं, उनके बनाये पालस्टर प्रसिद्ध हैं।

कौटिल्य के अर्थ शास्त्र की भाषा एवं शैली चरक से मिलती है। तन्त्रयुक्तियाँ भी चरक सुश्रुत आदि में अर्थशास्त्र के समान हैं, इसके अतिरिक्त विषदाता की पहिचान विषाक्त भोजन की पहिचान रत्नों एवं धातुओं की परीक्षा आदि का उल्लेख अर्थशास्त्र में हैं।

इसमें व्यवहार आयुर्वेद सम्बन्धी विषय जैसे मृत शरीर की परीक्षा, मृत्यु के कारणों की जाँच, विष से मृत व्यक्ति की पहिचान आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है।

महा मारी फैलने से उसको रोकने के उपाय भी विशेष रूप से वर्णित हैं।

—०—

अशोक द्वारा किये गये आयुर्वेद कार्य

मौर्यवंश में दो ही मुख्य प्रतापी राजा हुये एक चन्द्रगुप्त और दूसरा अशोक चन्द्रगुप्त के शासन काल की जानकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मिलती है। और अशोक के राज्यशासन की जानकारी उनके शिला लेखों से मिलती है। इन शिला लेखों में स्वास्थ्य सम्बन्धी जो आज्ञायें सूचनायें उत्कीर्ण कराई गई वे आज भी हमारे गौरव की बात हैं।

अशोक के मानव कल्याण कार्य

(१) पशु वध बन्द करना अशोक ने धीरे २ अपनी रसोई में शाक छोड़कर अन्य पाक बन्द कर दिये स्वयं निरामिष हो गया।

(प्र० शि० ले०)

(२) अशोक ने मनुष्य तथा पशु दोनों की चिकित्सा का प्रबन्ध सारे राज्य में किया इसके लिए दक्षिण के पड़ोसी राज्यों में चोल पाण्डय सातिमपुत्र केरलपुत्र और ताम्रपर्णी (सिंहलन) तथा अन्य राज्यों में चिकित्सा प्रचार किया।

(द्वि०शि०ले) तेरहवें शि० लेख हैं)

(३) अशोक ने मार्गों पर प्रत्येक आधे कोश पर कूप तथा विश्राम घर बनवाये।

(४) जहाँ पर औषधियां नहीं थी वहाँ पर दूसरे स्थानों से औषधियों के पौधे मंगाकर लगायें। मनुष्य तथा पशुओं के लिये उसने बट वृक्ष और आम्र-वन लगवाये।

(५) दूतों को परार्थ कार्य करने की हिदायत दी जिसमें सम्राट प्राणियों के प्रति अपने ऋण से मुक्त हो सके।

इस प्रकार मौर्य शासन चन्द्रगुप्त मौर्य से प्रारम्भ होता है, इसने ३२१ से २९७ ई० पूर्व तक राज्य किया, इसके पीछे इसका पुत्र बिन्दुसार २९७ से २७२ ई० पूर्व तक राज्य करता रहा, बिन्दुसार का पुत्र अशोक हुआ जिसने दूसरे भाइयों को मारकर राज्य प्राप्त किया इसका राज्य काल २७२ से २३२ तक चालीस वर्ष का है, इसके आगे कुणाल, दशरथ आदि राजा हुये। अन्तिम राजा वृहदरथ हुआ। १९१-१८४ किन्तु इनमें प्रतापी सम्राट अशोक ही हुआ जिसने प्रेम और स्नेह से राज्य किया तथा राज्य का विस्तार भी किया। उपरोक्त शासन भाव कलिङ्ग की विजय के पश्चात् अशोक में आये।

मान:---

कलिंग पूर्व का बन्दरगाह था। समुद्री मार्ग से पूरब की ओर सारा व्यापार कलिंग बन्दर ताम्र लिपि से ही होता था। इसलिये यह एक स्वतन्त्र

राज्य था। मान का अर्थात् माप तोल का प्रारम्भ नन्द से हुआ था ऐसा माना जाता है नन्द के समय सूर्प, द्रोण, मार आदि मापक थे प्राचीन काल में मगध और कलिंग ये दो ही मान प्रचलित थे इनमें श्रेष्ठता की कल्पना मगध मान की पीछे की है वास्तव में मान कोई न श्रेष्ठ है न कम, नन्द का राज्य विस्तृत था इसलिये नाप तोल के लिये बाटों का प्रबन्ध नन्द ने किया तम्पी यह प्रसिद्ध हुआ कलिंग स्वतन्त्र जन पद था इसलिये उसकी परम्परा अलग से चलती रही।

मिनाण्डर और मिलिन्द

अब मौर्य सम्राटों की स्थिति उत्तरोत्तर क्षीण होती गई तो अशोक के पश्चात् कोई प्रतापी राजा नही हुआ। ऐसी स्थिति में पड़ोसी राजाओं ने भारत पर आक्रमण किये इनमें मुख्य आक्रान्ता मिनाण्डर था जिसका पाली नाम मिलिन्द है। इसकी राजधानी शाकल (स्यालकोट) थी, इसके आक्रमण के समय मगध की गद्दी पर पाटली पुत्र में पुष्पमित्र राजा था यह शुङ्ग वंश का था मिनाण्डर ने पाटलिपुत्र (जिस का राजा पूष्प मित्र था) पर चढ़ाई इसी की समय भाष्यकार पतञ्जलि हुये हैं। साकेत (अयोध्या) मथुरा आदि राज्य जीते, गार्गीपुराण में इन देशों को जीतने का उल्लेख है। शाकल नगर मद्र देश में था पाण्डवों का मामा शल्य मद्र देश का हो था यह देश चिनाव और रावी के मध्य में था। यह वर्णन महाभारत तथा छान्दोग्य उपनिषद् में आता है। शाकल दो बार विदेशियों के हाथ में आया। एक बार सिकन्दर के दूसरी बार मिनाण्डर के मौर्य सम्राटों के पतन से काबुल पुष्कलावती तक्षशिला के प्रान्त यवनों के हाथों चले गये।

मिनाण्डर के शासन का पता उसके सिक्कों से चलता है इसके सिक्के काबुल से लेकर मथुरा बुन्देलखण्ड तक पाये जाते है, उत्तर में कश्मीर में इसके सिक्के मिले हैं।

राजा मिनाण्डर शालक (स्यालकोट) में नागसेन के पास गया था नागसेन विचित्र वक्ता तथा ज्ञानी था मिनाण्डर ने उससे प्रश्न किये इनमें से आयुर्वेद या चिचित्सा सम्बन्धी प्रश्न भी थे जिनका उत्तर नागसेन ने दिया—जैसे

(१) स्वप्न के विषय में, ये उत्तर चरक तथा चक्र पाणिदत्त से मेल खाते हैं। (२) काल मृत्यु अकाल मृत्यु—इस पर चरक संहिता में अच्छा वाद विवाद है। (३) ब्रण चिकित्सा का वर्णन (४) वैद्य की शिक्षा इस पर सुश्रुत ने योग्या सूत्रीय नामक अध्याय लिखा। इसका तात्पर्य क्रियात्मक शिक्षा से है

(५) ऊर्ध्वगुदरोग इस रोग का वर्णन अष्टाङ्ग-संग्रह में हुआ है।

कुशाण काल

अशोक के समय में ही भारत और चीन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था। अशोक ने अपने धर्म प्रचारक चीन भेजे थे तारीम के कोठे में भारतवर्ष की जनता और सभ्यता जमवई थी, इसलिये प्राचीन इतिहास में इसे चीन हिन्द (सर इण्डिया) कहते हैं। इस इलाके में यूचि लोग रहते थेहूंणों से भगाये जाने के कारण यूचिलोग धीरे २ हिन्दुकुश के इस पार भी उतरने लगे ये लोग कम्बोज देश से स्वात और सिन्ध की दूनों में होकर सीधे गान्धार की तरफ निकले हिन्दुकुश के दक्षिण में इनकी पाँच छोटी-२ रियासते बनी ; छ समय पश्चात् कुषाण नाम का एक व्यक्ति उनका सरदार बन गया उसने बाकी चारों रियासतों को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया, अन्त में उसने समूचे अफगानिस्तान, कपिश पश्चिमी पूर्वि गान्धार पुष्करावती - तक्षशिला को भी जीत लिया, कुषाण को इतिहास में कपस कहते है, ८० वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई।

कुषाण का बेटा विमकपस था, कुषाण बौद्ध था किन्तु विमकपसशैब था इसने समूचा पंजाब, सिन्ध, और मथुरा जीत लिया।

कनिष्क——विमकपस का उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध राजा कनिष्क हुआ उसने खेतान के राजा विजय कीर्ति के साथ मिलकर मध्य देश पर चड़ाई की उन्होंने साकेत (अयोध्या) को घेर लिया पश्चात् पाटलि पुत्र को भी जीत लिया यहीं से कनिस्क प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान अश्वघोष को अपमें साथ ले गया प्रसिद्ध शक सम्बत् जो ७८ ई० से शुरू होता है कनिष्क का ही चलाया हुआ है।

चरक संहिता

वर्तमान उपलब्ध चरक संहिता में जो निर्णय सागर प्रेस बम्बई से प्रकाशित है मुख्य पृष्ट पर निम्न वाक्य लिखे मिलते हैं, महर्षिणा पुनर्व सुनोपदिष्टा, तच्छिश्येणाग्नि वेशेन पणीता चरक दृढ बलाभ्याँ प्रति संस्कृता चरक संहिता' प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में निम्न वचन मिलते हैं।

"इतिह स्माह भगवानात्रेय:" तथा अध्याय की समाप्ति कर इत्यग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रति संस्कृते आदि इस पुस्तक का सम्बन्ध पुनर्वसु आत्रेय, अग्निवेश और दृढबल इन पाँच के साथ आता है, पुनर्वसु और आत्रेय इन दो नामों से एक ही व्यक्ति अभिप्रेत है, क्योंकि चरक सहिता में कई स्थानों पर पुनर्षसुरात्रेय:" ऐसा पाठ है, पुनर्वसुनाम इनका पुनर्वसुनक्षत्र में उत्पन्न होने से पड़ा और आत्रेय नाम अभिपुत्र होने से पड़ा, अत: ये चार ही व्यक्ति है जिनका सम्बन्ध चरक संहिता से है आत्रेत्र, अग्निवेश चरक और दृढबल। आत्रेय गुरु तथा उपदेष्टा हैं, अग्निवेश शिष्या हैं, च. सूत्रस्थान के प्रारम्भ में अग्निवेश के पाँछ साथियों का उल्लेख हैं।

भेल (ङ) जतूकर्ण, पराशर, हारित और क्षार पाणि, इन छः शिष्यों की आत्रेय ने शाश्वत-हेतु लिंग और औषध इन तीन स्तम्भों वाला आयुर्वेद

सिखाया, इन सबने अपनी-२ संहितायें बनाई इनमें मुख्य तन्त्र अग्निवेश कहीं बनाया हुआ था उसी का अधिक प्रचार हुआ, उस समय शिक्षा घूमते फिरते दी जाती थी चरक संहिता में भी यही चक्रमण भ्रमण वृत्ति से अग्निवेश ने आत्रेय को शिक्षा दी अग्निवेश ने इस उपदेश को लिपिवद्ध किया।

आत्रेय कौन थे—चरक संहिता में पुनर्वसुरात्रेय और भिक्षुक आत्रेय तीन आत्रेय आते हैं भिक्षुक शब्द वानप्रस्थी के लिए आता है, गौतम ने भिक्षु शब्द तृतीयाश्रम के लिये प्रयुक्त किया है, पुनर्व सुरात्रेय और कृष्णात्रेय दोनों एक हैं भेलसहिता में कृष्णात्रेय नाम अपने गुरु के लिए कई बार आया है "कृष्णात्रेय पुरस्कृत्य कथाश्चक्र महर्षय:" महाभारत में भी कृष्णात्रेयनाम आता है, अत: दोही आत्रेय हुये पुनर्व सुरात्रेय और भिक्षु रात्रेय, पुनर्वसुआत्रेय का तीसरा नाम चन्द्र भागी है कुछ विद्वान आत्रेय की माता का नाम चन्द्र भागा कहते हैं। यह भी सम्भव है कि आत्रेय का सम्बन्ध चन्द्र भागा नदी से जो कश्मीर से निकलती हैं (चिनाव) रहा है, वे उस देश में उत्पन्न हुये हों कुछ भी हो पुनर्वसु आत्रेय और भिक्षु रात्रेय का सम्बन्ध आयुर्वेद से है।

तक्ष शिला में जब जीवक पढ़ने गया था। वहाँ पर आयुर्वेद के आचार्य चरक थे, तक्षशिला के आत्रेय आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य थे पाणिनीय की जन्म भूमि भी इसी ओर शलातुर (वर्तमान यूसूफ नई) नामी गाँव था अत: तक्ष शिला के आचार्य को भिक्षक आत्रेय मान सकते हैं और पुनर्वस आत्रेय को काम्पिल, पाञ्चल क्षेत्र चैत्ररथ बन, धनेशायतन, कैलाश हिमालय के उत्तर पार्श्व में घूमने वाला मान सकते हैं, यही पुनर्वसु आत्रेय अग्नि वेश के गुरु थे जो घूमते हुये शिष्यों को उपदेश देते थे, और भिक्षु रात्रेय तक्ष शिला के आचार्य थे, क्योंकि चरक संहिता में कहीं भी तक्षशिला का नाम नहीं आता इसलिए पुनर्वसु आत्रेय का तक्षशिला से सम्बन्ध नहीं रहा, यह स्पष्ट है।

इन्हीं के उपदेश को अग्नि बेश ने लिपि वद्ध किया और चरक ने इसका प्रति संस्कार किया।

चरक कौन थे--

चरक संहिता के प्रति संस्कर्ता चरक थे चरक नाम प्राचीन है कृष्ण यजुर्वेद का एक शाखा का नाम चरक है इस शाखा का ग्रध्ययन करने वाले कहलाते हैं, वाराह मिहिर क वृहज्जातक में सन्यासियों के लिये चरक शब्द ग्राता है। चरक शब्द उपनिषद् में भी ग्राया है।

"मद्रेषु चरका पर्यव्रजाम:" (वृहस्दा. उ.) चरक शब्द वैशम्पापन ग्रौर उनके शिष्यों के लिये भी प्रयुक्त हो तथा (काशिका) जो शिष्य प्रथम गुरु की शिक्षा समाप्त कर ज्ञानोपार्जन के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे वे भी चरक कहे जाते थे, इसी से ग्रष्टाध्यायी में (माण वचर काभ्यां खञ) चरक के लिए हितकारी इस ग्रर्थ में चारकीण शब्द ग्राया है च्युग्राँग ने पाणिनि के विषय में लिखा है कि सामग्री की खोज में उन्होंने दीर्घ यात्रा की ग्रौर विद्वानों से मिलकर पूछताछ की यही उनका चरक रूप था भाव प्रकाश में शेष नाग द्वारा लोक वृतान्त जानने की इच्छा से चर रूप में पृथ्वी पर ग्राने के कारण उनको चरक कहा है। इस प्रकार चरक शब्द के कई ग्रर्थ मिलते हैं, नागेश भट्ट चक्रपाणि, विज्ञान भिक्षु ने शेषावतार की कल्पना के ग्राधार पर चरक तथा पतञ्जलि व्याकरण पर वृहत् भाष्य लिखे।

योग सूत्रों का निर्माण करे वह चरक का प्रति संस्कार कर ग्रपनी प्रतिभा को संकुचित कर क्यों दिखाते ? साथ ही पतञ्जलि ने महा भाष्य में ग्रपने को गोर्नद निवासी कहा है जबकि चरक में गोर्नद देश का कहीं भी उल्लेख नहीं हैं, ग्रौर महाभाष्य में भी चरक नाम नहीं है ग्रत: इससे दोनों की भिन्नता स्पष्ट है।

चरक का समय--

उपलब्ध चरक संहिता में साँख्य दर्शन तथा न्याय दर्शन की ग्रधिक छाया है, बौद्ध दर्शन की छाया भी एक दो स्थान पर है जैसे क्षणिकवाद के लिए "हेतु साम्या समस्तेषाँ स्वभावों परम: सदा" (सू०ग्र० १६/२७) भिषगजितीय ग्रध्याय में न्याय दर्शन के निग्रह स्थानों का उल्लेख है।

त्रिपिटक के चीनी अनुवाद में कनिष्क के राजवैद्य का नाम चरक मिलता है. कनिष्क का समय ईशा की प्रथम शताब्दी माना जाता है, कनिष्क की सभा में अश्वघोष भी था जिसे कनिष्क पाटलि पुत्र से लाया था। अश्वघोष की रचनाओं में चरक संहिता की झलक मिलती है सम्भव है उसी समय अग्निवेश संहिता के प्रतिसंस्कार हुआ हो कुछ भी हो यह संस्कार ईशा की प्रथम शताब्दी में या उससे पूर्व चरक द्वारा किया जा चुका था इसलिये चरक का काल ई० की प्रथम श० पूर्व मानना युक्ति संगत है।

—(०)—

दृढ़वल

दृढ़वल का दूसरा नाम कपिलबलि था कपिलबल का पुत्र होने से ही उन का यह नाम पड़ा। ये पंचनदपुर के रहने वाले थे (च०चि०सि०) पंचनदपुर कश्मीर देश में था। इसलिये दृढवाल को कश्मीर देश का कह सकते हैं। पञ्चनोर नामक स्थान कश्मीर से तीन,कोश उत्तर में है वितस्ता और सिन्धु नदी जहाँ पर मिलती है इसे आजकल पंचनीर कहा जाता है यही पंचनदपुर था।

दृढवल का समय वाग्भट से पूर्व का है क्योंकि अष्टाङ्ग संग्रह में उनके वचन उद्धृत मिलते हैं। जैज्जट ने भी अपनी निरन्तर पद व्याख्या नामक चरक टीका में दृढबल के वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किये हैं बाग्भ और जैज्जट का समय चौथी शताब्दी हैं इसलिये इससे पूर्व का समय होना चाहिये, बाग्मट में मद्यपान का वर्णन दृढबल के मद्यपान की छाया है जो गुप्त काल के वैभव की झाँकी है।

इससे प्रतीत होता है कि दृढवल गुप्त काल के प्रारम्भ में बाग्मट से पूर्व चौथी शताब्दी के पूर्व भाग तीसरी श० के अन्तिम चरण में हुये।

दृढ़बल की देन--

चरक संहिता के चिकित्सा स्थान के आरम्भ में दृढ़बल ने कहा है कि इस संहिता में सत्रह चिकित्सा अध्याय कल्पस्थान और सिद्धिस्थान नहीं मिलते थे, उनको इन्होंने भिन्न-२ स्थानों से एकत्र करके पूर्ण किया।

अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार अरुण दत्त ने ग्रहणी रोग की टीका में दृढ़बल का मत दिखाते हुये रसाद्रक्त ततोमांस मासान्मेद स्तथोस्थिच, आदि उदाहरण दिया है। इस प्रकार यह निश्चित है कि पुनर्वसुआत्रेय ने अग्निवेश को उपदेश बुद्ध के समय के आसपास दिया, अग्निवेश ने उसे लिपिवद्ध किया। चरक ने कनिष्क के समय इसका प्रतिसंस्कार किया। जो भाग संहिता के नहीं मिले उन्हें दृढ़बल ने अपने काश्मीर प्रदेश के आसपास ढूंढकर पूरा किया।

चरक संहिता का क्षेत्र कार्य चिकित्सा तक सीमित है, इसलिये जहां पर भी दूसरे शास्त्र का विषय आता है वहां पर उस शास्त्र के ज्ञाता से सहायता लेने को कहा गया है, उनका कहना है कि दूसरे के अधिकार के विषय में विस्तार से कहना ठीक नहीं, परन्तु शिष्य को समझाने के लिये विषय का उल्लेख अवश्य किया है। चरक संहिता की भाषा तथा शैली दोनों सरल हैं। शैली की विशेषताओं में ऋषियों के साथ बैठकर विचार करना है। चरक संहिता में जितने ऋषियों का उल्लेख है उतने नाम अन्य किसी आयुर्वेद ग्रन्थ में नहीं मिलते।

दार्शनिक विचार--

चरक संहिता के दर्शन पर सबसे प्रथम श्री सुरेन्द्रनाथ दास ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलास्फी' के भाग १ और २ में प्रकाश डाला है, उन्होंने स्पष्ट किया कि उपलब्ध सांख्य कारिका से पूर्व चरक संहिता में प्रकृति का विचार हुआ चरक में प्रकृति पुरुष को एक मानकर चौबीस तत्व माने गये हैं, क्योंकि दोनों ही अव्यक्त हैं, सांख्य में प्रकृति और पुरुष को पृथक मानकर पच्चीस तत्व माने गये हैं, साँख्य इन्द्रियों को सात्विक मानता है, परन्तु आयुर्वेद में इनको भौतिक कहा है।

चरक संहिता में साँख्य वादियों का कई स्थानों पर उल्लेख आया है वैशैषिक दर्शन में आत्मा का लक्षण चरक संहिता में वर्णित आत्मा के

लक्षणों का ही अनुकरण है। मनका अस्तित्व तथा उसका लक्षण न्याय दर्शन में चरक के अनुसार है। चरक का अध्ययन करने पर विदित होता है कि इसका दर्शन किसी एक दर्शन पर निर्भर नहीं है साँख्य, योग, न्याय और वैशेषिक इन सबका स्थान-२ पर उल्लेख है। साथ ही स्वतन्त्र विचारों का प्रतिपादन अधिक है।

वैद्य भेद—

चिकित्सा व्यवसाय में उस समय ठगी चल जाती थी इसलिये चरक में छद्मचर और सिद्ध साधित दो प्रकार के वैद्यों का वर्णन है। जो वैद्यों का रूप बनाकर उनके समान दिखावा रखकर लोगों को ठगते हैं उन्हें छद्मचर और जिन्होंने मान प्रतिष्ठा पायी है जिनके ज्ञान की ख्याति है। उनके नाम से अथवा उनके शिष्य बनकर धन कमाने वाले सिद्ध साधित कहलाते हैं।

इनके विपरीत जो वैद्य रोगों को दूरकर प्राणों को स्थित करने वाले हैं जो प्रयोग के ज्ञान विज्ञान आदि में सिद्ध हैं उनको प्राणा भिसर कहा गया है।

चरक संहिता की टीकायें—

(१) भट्टार हरिश्चन्द्र की चरक न्यास नामक व्याख्या।

(२) जैन्जटाचार्य विरचित निरन्तर पद व्याख्या नामक टीका। जैज्जट वाग्भट का शिष्य था।

(३) चक्र पाणिदत्त की आयुर्वेद दीपिका व्याख्या। यह टीका आजकल विशेष सम्मानित है, चक्र पाणिदत्त गोड़ देश में वैद्य कुल के अन्दर लोधुवली सज्ञक दत्त कुल में उत्पन्न हुये थे गौड़ाधि पति नयपाल देव की पाठशाला के अधिकारी एवं मन्त्री नारायण दत्त के पुत्र थे, इनके छोटे भाई का नाम मानु दत्त था। नयपालदेव का राज्य काल ११वी शती का मध्य है।

चक्रपाणि दत्त के बनाये चक्रदत्त, द्रव्यगुण संग्रह प्रसिद्ध हैं सुश्रूत पर भानुमती टीका इन्हीं की है।

(४) शिव दास सेन विरचित तत्व प्रदीपिका व्याख्या। शिवदास सेन बंगाल में मालाञ्चिका ग्राम में उत्पन्न हुये थे इनके पिता का नाम अनन्तसेन था, बार्बरशाह गोडाधिपत्ति के आश्रित थे, इनका समय १४५७ ई० से १४७४ ईस्वी तक था शिवदास सेन ने चक्रदत्त पर तत्व चन्द्रि का व्याख्या, द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या, अष्टाङ्क हृदय पर मत्वबोध नामक व्याख्या की है।

(५) नवीन टीका कारों में श्री योगीन्द्र नाथ सेनकी चरकापस्कार तथा गंगा धर कविरत्न की जलपकल्प तरू व्याख्या है। चरकोपस्कार व्याख्या अपूर्ण है।

भेल संहिता

पुनर्वसु आत्रेय के प्रधान ६ शिष्य थे १-अंग्रिवेश २-भेल ३-जतुकर्ण (५) पराशर ५ हारित और क्षारपाणि। इन सबने अपनी २ संहितायें बनायी थी जिनमें से केवल दो ही संहितायें उपलब्ध हैं एक अग्निकेश रचित चरक संहिता और दूसरी भेल संहिता भेल संहिता त्रटित रूप में है। जितना अंश मिलता हैं उससे स्पष्ट है कि यह संहिता अग्निवेश के सह पाठी की है, भेल संहिता की छपी पुस्तक कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है।

भेल संहिता का काल---चरक संहिता के समान ही भेल संहिता का काल ६०० ई० पू० है। भेल संहिता की रचना चरक संहिता के समान सूत्र स्थान रूप में है, बस संहिता की कई बातें चरक संहिता से मिलती हैं।

सुश्रुत संहिता

आयुर्वेद के आठ अंगों में सुश्रुत संहिता के अनुसार शल्य चिकित्सा सबसे मुख्य है। इस अंग के उपदेष्टा धन्वन्तरि हैं जो कि वैद्यक शस्त्र के सर्वप्रथम देवता माने जाते हैं।

अहहि धन्वन्तरि रादि देवो जरारुजा मृत्यु हरोऽमराणाम् शल्याङ्ग मङ्गैर परैरुपेत्तं प्राप्तोस्मिगां मूयइहोप देष्टुम्।

सु०मू०अ० १/२१

देवताओं के बुढ़ापे, रोग मृत्यु को दूर करने वाला आदि देव धन्वन्तरि मैं हूँ, शल्य आदि दूसरे अंगों का उपदेश करने के लिये पुनः इस पृथ्वी पर आया हूँ। चरक संहिता काल में धन्वन्तरि सम्प्रदाय का विकास हो गया था जो लोग दाहकर्म शस्त्र कर्म करते थे उनके लिये धन्वन्तरि शब्द प्रयुक्त होता था चरक संहिता के समय शस्त्र, क्षार, अग्नि चिकित्सा का प्रचार अधिक था।

किन्तु चरक संहिता में दी हुई आयुर्वेद परम्परा में धन्वन्तरि का नाम नहीं हैं, एवं सुश्रुत की परम्परा में भारद्वाज आत्रैय का नाम नहीं है, परन्तु उपलब्ध सुश्रुत में चरक संहिता का गद्य तथा पद्य भाग कई स्थान पर अविकल रूप में मिलता है, इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान सुश्रुत संहिता चरक संहिता से पीछे बनी है।

उपलब्ध सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरिका काशी राज और देवो दास नामो से भी उल्लेख किया गया है, धन्वन्तरि इन्द्र के शिष्य तथा सुश्रुत आदि के गुरु काशी के राजा हैं, परन्तु महाभारत में समुद्र मंथन के प्रसंग में धन्वन्तरि देव के आविर्भाव का उल्लेख है, बेद में धन्वन्तरि नाम नहीं आता हरिवंश पुराण के अनुसार काश राजा के वंश में उत्पन्न होने से काशिराज एवं धन्व राजा के पुत्र होने से धन्वन्तरि कहे जाते हैं।

दिवोदास धन्वन्तरि की चौथी पीढ़ी में हुए हैं, परन्तु आयुर्वेद के विद्वान होने से धन्वन्तरिका अवतार मानकर इनका धन्वन्तरि दिवोदास नाम प्रचलित हो गया।

परम्परा–

ब्रह्मा से इन्द्र तक आयुर्वेद परम्परा चरक सुश्रुत काश्यप संहिता में एक समान हैं, इन्द्र से इसकी पृथक शाखाओं का उल्लेख है, धन्वन्तरि ने इन्द्र से सम्पूर्ण आयुर्वेद सीखा किन्तु उपदेश केवल शल्य अंग का ही किया इसलिये इस अंग का नाम धन्वन्तरि सम्प्रदाय प्रसिद्ध हो गया, धन्वन्तरि ने अपना उपदेश सुश्रुत को सम्बोधन करके दिया इसी से इसका नाम सुश्रुत सहिता हो गया है।

धन्वन्तरि दिवोदास–

दिवोदास का नाम ऋग्वेद में प्रथम आता है। इसे सुदास का पिता और शम्बर का शत्रु कहा गया है। परन्तु इस दिवोदास का काशीराज धन्वन्तरि से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता और न इसके चिकित्सक होने का ही उल्लेख मिलता है पुराणों में अनेक दिवोदासों का वर्णन उल्लेख हैं, हरिवंश २९ में अध्याय में काश वंश की परम्परा इस प्रकार वर्णित है, काश–दीर्घतपा–धन्व–धन्वन्तरि के तुमान –भीमरथ का दिवोदास– प्रतर्दन - वत्स—अजकी, इसी दिवोदास द्वारा वाराणसी बसाने का उल्लेख है।

महाभारत में चार स्थानों पर यह नाम आया है इस प्रकार दिवोदास का काशिपति होना वाराणसी को बसना भारद्वाज की शरण में जाना स्पष्ट हैं। यही दिवोदास धन्वन्तरि सुश्रुत के उपदेष्टा हैं।

———

सुश्रुत

उपलब्ध सुश्रुत संहिता में सम्बोधन सुश्रुत को किया गया है, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि सुश्रुत के साथ समागत सब शिष्यों ने धन्वन्तरि दिवोदास से कहा कि हम सबके एक ही अभिप्राय: को ध्यान में रखकर सुश्रुत ही आपसे प्रश्न पूछेगा, उत्तर हम सब सुनेंगे।

सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है, चक्रदत्त में भी सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र माना गया है, परन्तु रामायण के विश्वामित्र से इसका

कोई सम्बन्ध नहीं है, महाभारत अनुशासन पर्व के चौथे अध्याय में विश्वामित्र के पुत्रों में सुश्रूत का नाम आया है धन्वन्तरि तथा सुश्रुत का गुरु शिष्य सम्बन्ध अग्नेय पुराण में भी आया है। सुश्रत में राम और कृष्ण का नाम आया है (चि०अ० ३०) इससे स्पष्ट है कि जिस समय देवपूजा आरम्भ हो चुकी थी उसी समय इसका निर्माण हो गया था।

इसलिये धन्वन्तरि दिवोदास का समय ही सुश्रुत का समय है। जो ईश्वी की दूसरी या तीसरी शताब्दी सम्भावित हैं।

नागार्जुन—

डल्हण का कहना है कि सुश्रुत का प्रति संस्कार हुआ है और वह नागार्जुन ने किया है, नागार्जुन भी कई हुये हैं माध्यमिक वृत्ति के कर्ता एवं शून्य वाद के प्रवर्तक नागार्जुन दार्शनिक हैं बैद्य नहीं, शात वाहन के राज्य-काल में एक नागार्जुन थे ऐसा हर्ष चरित में उल्लेख है अलबरुनी ने लिखा कि उससे एक सौ वर्ष पूर्व एक रासायनिक नागार्जुन थे। कविराज गणनाथ सेन व पं० हेमराज की मान्यता है कि सिद्ध नागार्जुन सुश्रुत के प्रति संस्कर्ता हैं, परन्तु इस विषय में कोई बलवान प्रमाण नहीं मिलता और न यही सिद्ध होता है कि सुश्रुत का प्रति संस्कार हुआ है। क्योंकि सुश्रुत में चरक की भांति प्रति संस्कार होने का उल्लेख नहीं है।

गुप्त काल

वाकाटक प्रवर सेन की मृत्यु के पश्चात् समुद्र गुप्त ने वाकाटक राज्य पर हमला किया और अन्त में उसे जीत लिया पुनः सम्पूर्ण गुजरात काठियाबाड को भी जीतकर सारे भारत का महाराजा धिराज बन गया, इसकी विजय का वृतान्त इलाहाबाद किले में कौशाम्बी वाली लाट पर खुदा हुआ है, मगध और अन्तर्वेद को जीतकर समुद्र गुप्त दक्षिण पूरब की ओर बढ़ा और छत्तीसगढ़, वस्तर, आन्ध्र तक गया इस प्रकार समुद्र

गुप्त का राज्य काबुल सिंहल तक छा गया समुद्र गुप्त के पिता का नाम चन्द्र गुप्त था जो कि घटोत्कच का पुत्र था, गुप्तवंश का अभ्युदय वास्तव में चन्द्र गुप्त प्रथम के समय हुआ, अशोक के बाद प्रतापी राजा समुद्र गुप्त धीर हुआ जिसने लम्बे समय तक राज्य किया।

विक्रमादित्य की उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही मिली थी। चीनी यात्री। (४०० से १६६६)

फाईयान इसी के समय भारत ग्राया था जो लगभग दश वर्ष तक भारत में रहा, चन्द्रगुप्त द्वितीय का समय गुप्तकाल का योवन था, इस समय कला, विज्ञान, साहित्य की उन्नति चरम सीमा पर थी, वह समय इतिहास में स्वर्ण युग के नाम से प्रसिद्ध है। कालिदास इसी समय के कवि है, ज्योतिष के बाराह मिहिर इसी समय हुये।

अष्टाङ्ग संग्रह और वाग्भट

उस समय की अकेली पुस्तक वाग्भट की बनाई हुई। अष्टाँग संग्रह है, अष्टाँग हृदय इसी का पद्यमय संक्षिप्त रूप है, चरक और सुश्रुत के बाद की यही संहिता है।

वाग्भट के पिता का नाम सिंह गुप्त था और पितामह का नाम भी वाग्भट ही था जिसे वृद्ध वाग्भट कहते हैं गुरु का नाम अवलोकितेश्वर था। यह बौद्ध धर्म का मानने वाला था।

अष्टांग हृदय का अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ है। इस समय भारतीय साहित्य में पश्चिमी विज्ञान ने प्रवेश कर लिया था। चिकित्सा पर भी इस समय पश्चिम का प्रभाव दिखता है, पलाण्डु, मद्य और माँस तीनों का सम्बन्ध इसी ग्रन्थ कर्त्ता ने बताया है, इसी समय नालन्दा विश्व विद्यालय

की स्थापना हुई थी बौद्ध यात्री इत्सिंग १० वर्ष तक नालन्दा में रहा उसने लिखा है कि पहले आयुर्वेद आठ पुस्तकों में था परन्तु अब एक व्यक्ति ने सक्का संग्रह करके एक पुस्तक बनाई है, इत्सिंग का समय ६७५ से ३८५ के आस-पास है परन्तु वाग्मट इससे पूर्व हुये हैं, वाग्भट का समय पांचवी शती के आसपास निश्चित है।

अष्टाँग संग्रह—और अष्टाँगहृदय वाग्भट का नाम इन दोनों संहिताओं के साथ जुड़ा हुआ है, वास्तव में यह दोनों ग्रन्थ वाग्भट के ही लिखे हुये हैं अन्तर यह है कि अष्टाँग हृदय में अनुभव तथा बुद्धि की परिपक्वता की छाप है, यह केवल पद्य में लिखा गया है। पद्ध रचना लालित्य मय है मद्यपान के लिये सुन्दर श्लोक बनाये गये हैं।

अष्टाँग संग्रह के मंगलाचरण में बुद्धाय तस्मैनमः" कहकर बुद्ध को नमस्कार किया है, उत्तम वैद्य के लिये महावोधि सत्वों की उपमा दी गई है, संग्रह तथा हृदय दोनों में महामायूरी विद्या का उल्लेख भो मिलता है, महामायूरी बौद्धों के पाँच बड़े मन्त्रों में से एक थी जो पंच रक्षा के नाम से प्रसिद्ध हैं, इस प्रकार इन ग्रन्थों में बुद्ध काल की छाप है।

अष्ठांगहृदय के टीकाकार

अष्टाँग हृदय पर जैज्जट आदि की बनाई दो टीकायें इस समय थी इन्दु की शशि लेखाटीका मिलती है, यही एक टीका सम्पूर्ण है। इन्दु की स्थिति १३वीं शती से पूर्व है, अष्टाँग हृदय पर सबसे अधिक टीकायें हुई, ११ टीकाकारों का पता नहीं शेष इस प्रकार हैं।

(१) आशा धर की उद्योत टीका ओफ्रेट में इसकी हस्त लिखित प्रति का उल्लेख है. आशा धर जैन थे तथा १२४० में हुये।

(२) चन्द्र नान्दन की पदार्थ चंद्रिका टीका, ये दसवीं शती से पूर्व थे।

(३) राम नाथ की टिका—इनकी सूत्र स्थान पर लिखि टीका बैंकटेश्वर प्रेस में छपी है।

(४) टोडरमल की टीका का उल्लेख भी मिलता है टोडर मल मुगल बादशाह अकबर के मंत्री थे, इनके नाम पर टोडरानन्द नामक वैद्यक ग्रन्थ बना है।

(५) भट्ट नरहरिया नृसिंह कवि भट्ट शिवदेव के पुत्र की वाग्भट खण्डन टीका का भी उल्लेख मिलता है।

(६) अरुणदत्त की सर्वाङ्गसुन्दरी टीका सम्पूर्ण मिलती है अरुण दत्त मंगलदत्त का पुत्र था आयुर्वेद एवं संस्कृत साहित्य का इन्हें ज्ञान था इनका समय १२२० ई० से पूर्व होना चाहिए।

(७) हेभाद्रि की टीका आयुर्वेद रसायन।

(८) शिव दास सेन की उत्तर स्थान पर मिलती है, टीका सरल तथा संक्षिप्त है।

अष्टाँग हृदय संग्रह का ही सार रूप है। इसमें १२० अध्याय हैं, विभाग इस प्रकार है—सू० स्थान, शारीर स्थान, निदान, चिकित्सा कल्प, उत्तर तन्त्र। अष्टाँग संग्रह का प्रचार अत्याधिक हुआ इसका अनुवाद तिब्बती तथा जर्मनी भाषा में हुआ है वाग्भट के लिये लघु वाग्भट तथा संग्रह के लिये वृ० वाग्भट कहा है।

मध्य काल (६४७ से १२०० ई०)

माधव निदान

माघव कर द्वारा रचित इस ग्रन्थ का नाम रोग विनिश्चय था किन्तु लोक में माधव निदान नाम से प्रसिद्ध हो गया (निदाने माधव: श्रेष्ट:) लेखक ने प्रारम्भ में जो वर्णन दिया वह इस प्रकार है। "नाना तन्त्र विहीनामा भिषजा मल्प मेघ साम् सुखंविज्ञातुमातङ्क मयमेव भविष्यति ।।

अर्थात् असेकशास्त्रों के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धि वाले वैद्यो को रोगों का ज्ञान सुगमता से कराने के लिये यही रोग विनिश्चय नामक ग्रन्थ सहायक होगा। इसमें प्रारम्भ में पंचनिदान लक्षण देने पश्चात् ज्वर-अतिसार रोगों का निदान चरक, सुश्रुत, वाग्भट आटि ग्रन्थों से संग्रह किया गया है।

माधवकर का समय---अरवी प्रमाण इनको सातवीं शताब्दी का मानता है, क्योंकि अल्वरूनी का कथन है कि अल्वासिद खलीफ़ा के समय जिन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अरवी भाषा में हुआ उनमें माधव निदान भी था। माधव ने वाग्भट के वचनों का संग्रह किया है, वृन्द और चक्रपाणि ने रोग विनिश्चय के क्रम से ही अपने २ ग्रन्थों में चिकित्सा कहीं।

इसलिये इनसे पूर्व और वाग्भट से पीछे इनका समय आता है। यह शती के आसपास हो सकता है। माधव को इन्दु का पुत्र कहा जाता [illegible] कर आने से कविराज गणनाथ सेन इन्हें बंगाली मानते हैं माधवकर ने रत्न माला नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी लिखा था, तीसरा ग्रन्थ द्रव्य गुण पर लिखा।

टीकाकार---माधव निदान की दो टीकायें प्रसिद्ध हैं।

(१) श्री विजय रक्षिता और उनके शिष्य श्री कण्ठ की मद्यु कोश टीका।

(२) श्री वाचस्पति वैद्य की आतंक दर्पण टीका । ये टीकाकार चौदहवीं शताब्दी में हुये हैं, विजय रक्षित, श्री कण्ठ १४वीं शताब्दी के पूर्वार्ध और विजय रक्षित उत्तराध में । श्री कण्ठ ने अपने गुरु की अधूरी टीका को पूर्ण किया था ।

चक्रदत्त

चक्रदत्त का समय ग्यारहवीं शती है, इसलिये वृन्द का समय लगभग नवीं शती या १० वीं शती होना सम्भव है, इस समय के सिद्ध योगग्रन्थ की अधिक ख्याति हुई इसी से चक्रपाणि दत्त जैसे विद्वान को इसी को आधार बनाना पड़ा । वृन्द के टीकाकार का कहना है कि पश्चिम (मारवाड़) में होने वाले रोगों का उल्लेख विशेष रूप से ग्रंथ कर्त्ता ने किया इस आधार पर इनका पश्चिम भारत का होना सम्भव है । जन्म से लेकर बाजीकरण तक सत्तर अधिकारों में चिकित्सा के सिद्धान्त प्रारम्भ में देकर संक्षेप में निदान और चिकित्सा क्रम कह दिया है । पीछे के अध्यायों में स्नेह, स्वेद, बमन, विरेचन, वस्ति, धूम, नश्य आदि का वर्णनकर ८१ वीं अध्याय में स्वास्थाधिकार कहा, इसमें सद्वृत्त का भी उल्लेख है, अन्त में मिश्र काधिकार है जिसमें चिकित्सा के चार पाद, मान परिभाषा आदि विषय हैं ।

इस ग्रन्थ की एक ही टीका कुसुमावली है जिसे श्री कण्ठ ने बनाया है ।

ग्रन्थ की विशेषता--

योग संग्रह ग्रन्थों में प्रथम विस्तृत ग्रंथ सम्भवतः यही है निदान का विशेष वर्णन नहीं है क्योंकि माधव निदान की प्रसिद्धि हो चुकी थी अतः चिकित्सा के दृष्टिकोण से ही इस ग्रन्थ की रचना हुई है, इसमें खनिज धातुओं

का प्रयोग कम है किन्तु लौह और मण्डूर का प्रयोग बहुत है।

अष्टाँग सग्रह में लिखित प्रसिद्ध शिवा गुटिका का उल्लेख चिकित्सा कलिका और चक्रदत्त में है। लौह, अभ्रक, ताम्र का मारण प्रयोग चक्र दत्त में प्रथम मिलता है।

चक्रपाणिदत्त का चिकित्सासार संग्रह [चक्रदत्त]

चक्रपाणिदत्त ने अपना परिचय चक्रदत्त के अन्त में दिया है। जिसमें उन्होंने अपने को गौड़ाधिपति नयपाल की पाकशाला के अधिकारी नारायण दत्त का पुत्र बताया है, इनके बड़े भाई का नाम भानु था महिपाल का समय लगभग ९७५—१०२६ ई० है। महिपाल के पश्चात उसका पुत्र नयपाल राजा हुआ। नयपाल का पुत्र विग्रह पाल, विग्रह पाल की मृत्यु के पश्चात उसके तीन पुत्रों में राज्य के लिये झगड़ा हुआ इस लड़ाई में पाल राज्य सकुचित हो गया अन्त में विग्रह पाल का तीसरा पुत्र राजा हुआ, इसे भी अपने मन्त्री द्वारा राज्य से हाथ धोना पड़ा फिर सेनवंश ने राज्य किया सेनवंश का अन्तिम राजा लक्ष्मण सेन हुआ तो इस राजवंश का भी अन्त हो गया। लक्ष्मण सेन स्वयं कवि था।

पाल और सेनवंश राजाओं के समय में ही बंगाल में वैद्यक शास्त्र के नये—२ ग्रंथ बने चक्रपाणिदत्त, मदनपाल, बंगसेन आदि प्रसिद्ध ग्रन्थकार इन्ही वंशों के समय हुये। और राज्याश्रय के कारण आयुर्वेद का विस्तार भी हुआ। इनमें सर्वप्रथम चक्रपाणिदत्त ही थे इनका समय नयपाल का राज्यकाल है जो (१०४० ई० है)

चक्रपाणि दत्त की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी, इन्होंने कई ग्रन्थ लिखे साहित्य में माघ की टीका, कादम्बरी की टीका, दश कुमार चरित की उत्तर पीठिका, आदि, वैद्यक शास्त्र में वैद्यकोष: आयुर्वेद दीपिका नामक चरक की टीका, भानुमती नामक सुश्रुत टीका, द्रव्यगुण संग्रह सार संग्रह आदि; चरक की प्राञ्जल टीका के कारण इनको चरक चतुरानन कहा जाता है, चक्रपाणि ने वृन्द के योगों में परिवर्तन कर नये योग भी मिलाये हैं द्रव्यगुण संग्रह में द्रव्यों का संग्रह, अनुपान आदि की विवेचना है, चक्रपाणिदत्त ने चरक पर लिखी आयुर्वेद दीपिका (चरकतात्पर्य) टीका में अपने गुरु का नाम नरदत्त दिया है। ये वंग देश में वीर भूमि के समीप मयूर ग्राम में लोध्रवश, दत्तकुल में उत्पन्न नारायण दत्त के पुत्र थे।

इनके पिता गौड़ाधिपति नयपाल की पाकशाला के अध्यक्ष थे पिता की की मृत्यु के पश्चात् चक्रपाणि दत्त प्रथम पिता के स्थान पर नियुक्त हुये पश्चात् अपने बुद्धि कौशल से मन्त्री बन गये। सेन नाम से इनका बंगाली होना स्पष्ट है, ये स्वयं को मालंचिका ग्राम निवासी तथा गौड़ देश के राज वैद्य अनन्त सेन का पुत्र कहते हैं, इनका समय १४५७ से १४७४ है।

'मुगल साम्राज्य और अंग्रेजी संगठन'

महमूद के बाद गजनी की सलतनत धीरे-२ क्षीण होती गई गजनी सेहरात के मार्ग में फरारुद नदी के दून में गोर नामक प्रदेश है वहाँ के पठान सरदार अलाउद्दीन ने महमूद के वंशज बेहराम कोहराकर (१११८—५१) गजनी से भगा दिया, फिर उसके बेटे खुशरो के समय ११५२—६० गजनी को सात दिन तक लूटा और जला कर खाक करदिया। अलाउद्दीन के भतीजा

शहाबुद्दीन गोरी ने हिन्दुस्तान जीतने का संकल्प किया। इसने गुजरात पर चढ़ाई की परन्तु इसमें असफल होकर अजमेर और दिल्ली की ओर बढ़ा परन्तु पानीपत के पास तरावड़ी मैदान में पृथ्वीराज से हार कर लौट गया परन्तु अगले वर्ष फिर युद्ध हुआ और पृथ्वीराज कैद होकर मारा गया. फिर वह सीधा अजमेर गया । दिल्ली में अपने दास तुर्क 'कुतुबुद्दीन ऐबक' को शासन करने छोड़ गया और अजमेर को जीतकर लौटा। अन्तिम बार ११९४ में शहाबुद्दीन ने कन्नौज पर चढ़ाई की और कन्नौज का राजा जयचन्द चन्द्रावर मैदान में मारा गया। १२०६ से १२९० ई० शहाबुद्दीन की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने दिल्ली का राज्य दास कुतुबुद्दीन को सौंपा। शहाबुद्दीन पठान था कुतुबुद्दीन तुर्क था १२१० ई० में कुतुबुद्दीन लाहोर में मारा गया। दिल्ली की कुतुबमीनार इसी की बनाई कही जाती है।

कुतुबुद्दीन की मृत्यु के बाद इल्तुतमिस गद्दी पर बैठा, इसी समय मंगोलो ने अपनी विजय यात्रा प्रारम्भ करदी इनका नेता चंगेज खान था। मंगोलों ने तुर्कों के तमाम मुस्लिम राज्यों को उखाड़ फेंका, अफगानिस्तान भी छीन लिया। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् (१२३६ ई०) उसकी बेटी रजिया सुल्ताना गद्दी पर बैठी यह कुशल और वीर स्त्री थी किन्तु तुर्कों ने स्त्री शासन स्वीकार नहीं किया और बगावत करदी जिसको दबाते हुये १२४० ई० में रजिया भी मारी गई, रजिया के पीछे इसका छोटा भाई नासिरुद्दीन महमूद गद्दी पर बैठा इसके बाद उसका पोता गद्दी पर बैठा और उसके मन्त्री खिलजी ने इसे मारकर गुलाम वंश का अन्त कर दिया। खिलजी वंश १२९० के १३२५ ई० तक रहा, इनमें प्रसिद्ध शासक अलाउद्दीन खिलजी हुआ, १३२५ से १३९८ ई० तक तुगलक वंश ने शासन किया प्रारम्भ गयासुद्दीन तुगलक से हुआ इसका बेटा मुहम्मद तुगलक १३५१ ई० में मर गया, अन्तिम तुगलक शासक फ़िरोजतुगलक के समय तैमूर ने चढ़ाई करदी तैमूर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों के पास केवल काबुल बचा। १४९७ ई० में वास्कोडिगामा आशा अन्तरीप का चक्कर काटकर पुर्तगाल से भारत के पश्चिमी तट कालीकट पर पहुंचा। मालावार के सरदारों ने अपना व्यापार बढ़ाने के लिये इन्हें यहाँ कोठियाँ बनाकर पैर जमाने का अवसर दिया

१५१० में पुर्तगालियों के सेनापति आल बुवर्ल ने बीजापुर से गोवा छीन कर इसे राजधानी बनाली। इस युग में रामानन्द हुये जिनके शिष्य कबीर थे। गुरु नानक का जन्म पंजाब में हुआ (१४६८—१५३८) मारवाड़ की प्रसिद्ध मीराबाई जो राणा सांगा की पुत्र वधु थी (१४९८—१५४६) में हुई।

मध्यकाल का ज्ञान और अर्वाचीन काल का प्रारम्भ

गुप्त युग में भारत वर्ष का ज्ञान और सभ्यता जहाँ तक पहुंच चुकी थी उसके एक हजार वर्ष बाद तक संसार में कुछ उन्नति नहीं हुई। मंगोलों और अरबों द्वारा भारत और चीन का ज्ञान पश्चिमी योरोप तक इसी समय पहुंचा। लकड़ी के ठप्पों से कागज पर छापने की पद्धति चीन से यूरोप में गयी जर्मनी ने पीछे शीशे के ठप्पे बनाये जिससे प्रकाशनों में सरलता आ गई, नाविकों के लिये दिग्दर्शक यन्त्र भी इसी समय बना।

आयुर्वेद साहित्य–

इतने लम्बे समय में केवल टीकायें या संग्रह ग्रन्थों के अतिरिक्त कोई बड़ा ग्रन्थ गुप्त साम्राज्य के पीछे आयुर्वेद साहित्य में नहीं मिलता। एक हजार वर्षों के मध्य या अब तक कोई विशेष मूल्यवान ग्रन्थ आयुर्वेद साहित्य में नहीं बना। किन्तु निघण्टु और रसशास्त्र का विकाश इस समय पूर्णत: हुआ। निघण्टु की रचना सम्भवत: मुगलों या तुर्कों के सम्पर्क से प्रारम्भ हुई होगी। नाड़ी विज्ञान का प्रारम्भ भी इसी समय की विशेषता है। मुगल काल में चिकित्सा की स्थिति क्या थी इसका थोड़ा सा पता आयने अकबरी से चलता है।

मुसलमान या तुर्क अपने साथ अपने ही हकीम लाये थे।

अंग्रेज या यूरोप के दूसरे लोग अपने साथ वहीं के चिकित्सक लाये इस प्रकार उत्तर भारत में देशी चिकित्सा पनपने की स्थिति में नहीं रही दक्षिण में महाराष्ट्र के अन्दर हिन्दू राज्य रहने से वहां पर देशी चिकित्सा का विस्तार हुआ। वहीं पर इस समय संग्रह ग्रन्थ अधिक बने ठेट दक्षिण में आयुर्वेद चिकित्सा का प्रारम्भिक रूप पंच कर्म विधि वस्ति चिकित्सा धारा स्नान आदि जो आज बचा हुआ मिलता है वह इसी का परिणाम है, अष्टाङ्ग हृदय या अष्टांग संग्रह का प्रचार दक्षिण में आज भी अधिक है।

इटैलियन लेखक का वर्णन

इस समय की चिकित्सा का उल्लेख इटैलियन लेखक निकोलियों मैन्युसी Niccolao manucci ने अपने पुस्तक मोगल इण्डिया में दिया है। लेखक स्वयं चिकित्सक था इसे औरङ्गजेब और शाह आलम के समय कई बार राजमहल में चिकित्सा कार्य करना पड़ा, विष के रोगियों की, आँतों के फटने की तथा शिरावेध चिकित्सा भी इसने की थी। इसके वर्णन से यह भी पता चलता है कि उस समय वस्ति (एनिमा) का चलन नहीं था इसके लिये कोई उचित साधन भी नहीं थे न इसका कोई उपयोग ही जानता था।

इसने बस्ति देने के लिये उस समय एक नया तरीका अपनाया इसने गाय का ब्लेडर लेकर उसमें हुक्के की नली लगाकर काम चलाया निकोलियों का यह भी कहना है कि उस समय राजमहल में कई हकीम रहते थे जो भिन्न-२ विषयों में निपुण थे, इनकी विद्या के अनुसार इनके नाम भी थे, जैसे हकीमीं बुर्जुग (बड़ा हकीम) हकीम उलमूल्क (राजवैद्य) आदि।

उस समय प्लास्टिक सर्जरी का भी चलन था, उसने इसका भी स्पष्ट उल्लेख किया है, उसके लिखे अनुसार औरङ्गजेब ने बीजापुर पर १६७० ई० में आक्रमण किया, उस समय बीजापुर वाले यदि किसी मुगल को पत्ते काटते या घास काटते देखते तो उसे पकड़ ले जाते और उसकी नाक काट देते थे। मुगल जर्राह इनकी नाक ठीक कर देते थे, इसके लिए जर्राह भौं के ऊपर से माथे मांस काटकर नाक पर लाकर उससे नाक बनाते थे जख्म को भरने वाला लोशन लगाकर थोड़े समय में ही उसे भर देते थे।

इसके अतिरिक्त सिरावेध, दाहकर्म तथा नाड़ीज्ञान का वर्णन लिखा। सिरावेध पागल पन तथा अन्य रक्त का दबाव बढ़ने आदि की अवस्थाओं में जब कोई डाक्टर उसे ठीक नहीं कर सका तो उसने एक लोहे के छल्ले को आग में लाल गरम कर नाभि पर दाग दिया जिससे आंतों में गति उत्पन्न हुई और स्त्री का रोग ठीक हो गया, इसी प्रकार हैजे में भी दाह कर्म बताया है सुश्रुत ने भी यही चिकित्सा विसूचिका की बताई है 'साध्यासु पाष्ण्यों दहनम्' सुश्रुत उ० अ० ५६/२।

नाडी ज्ञान–

मुगल काल से पूर्व रोग जानने के तीन। आप्तेपिदेश अनुमान, प्रत्यक्ष प्रकार (पञ्चमि: श्रीत्रादीमि: ध्रश्नेनच थे। परन्तु मुगलकाल में जब परदे की प्रथा बहुत बढ़ी हुई थी। तब यह परीक्षा सरल न होने से नाड़ी ज्ञान का विकास हुआ, सर्व प्रथम नाड़ी ज्ञान हमको शार्ङ्गधर संहिता में मिलता है।

शार्ङ्गधर संहिता, भाव प्रकाश अथवा दक्षिणी भारत की गद सं जीवनी वृद्धयोगतङ्गिणी, योग रत्नाकर आदि ग्रन्थों में नाड़ी ज्ञान का प्रकरण होने के अतिरिक्त उत्तर भारत में भी कणाद का नाड़ी विज्ञान लिखा गया श्री यादव जी ने रावण कृत नाड़ी विज्ञान ग्रन्थ को अपनी आयुर्वेद ग्रंथ माला में प्रकाशित किया है। नाड़ी विज्ञान पर छोटे बड़े लगभग ४६ ग्रन्थ मिलते हैं, संक्षेप में नाड़ी विज्ञान का प्रचार इस देश में १३वीं सदी से हुआ है। वास्तव में नब्बाज नब्ज देखने में चतुर हकीम थे।

रस योग वाले ग्रन्थ--

गुप्त काल के पीछे यदि भारत के उत्कर्ष का कोई समय आया तो वह मुगलकाल ही था, अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का समय शान्ति तथा ऐश्वर्य का युग था इस समय विलासता अधिक बढ़ गयी थी अत: इससे उत्पन्न रोगों को शीघ्र अच्छा करने के लिये इस विद्या का चिकित्सा में प्रवेश हुआ।

सर्वप्रथम रसशास्त्र किमिया गिरि—धातुवाद सोना, चांदी बनाने के लिये सिद्धों के पास था। इससे पूर्व इनका उपयोग चूर्ण के रूप में चला वह स्पष्टत: मुसलमानों की देन है, गुप्तकाल में मद्य लहशुन—प्याज और मांस आया था इस काल में मद्य के साथ अफीम भांग शंखिया भी चिकित्सा में आ गये।

शार्ङ्गधर संहिता

प्रकाशित शार्ङ्गधर संहिता में शार्ङ्गधर को दामोदर का पुत्र बताया है। ग्रन्थ कर्ता ने इसमें अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा परन्तु शार्ङ्गधर पद्धति में ग्रंथ कर्ता ने अपना परिचय दिया है, उसके अनुसार शाकम्मरी देश में हम्मीर नाम का राजा हुआ है, जो कि चौहान वंश का था उसकी सभा में राधव देव नाम का ब्राह्मण था उसके तीन पुत्र हुये गोपाल, दामोदर और देवदास, दामोदर के तीन पुत्र हुये जिनमें शार्ङ्गधर सबसे बड़े लक्ष्मीधर छोटे तथा कृष्णाधर सबसे छोटे थे, इन्हीं शार्ङ्गधर ने शार्ङ्गधर संहिता बनाई।

शार्ङ्गधर पद्धति में जिस हम्मीर का उल्लेख हैं वह मेवाड़ का राजा हम्मीर ही प्रतीत होता है। वह स्वयं विद्वान था और विद्वानों का आदर करता था उसी के नाम पर हम्मीर काव्य संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध है, इस का समय १२२६ ई० का है, शार्ङ्गधर संहिता में ग्रन्थ कर्ता ने केवल इतना कहा है कि मैं शार्ङ्गधर सज्जनों को प्रसन्न करने के लिये मुनियों के कहदुये और चिकित्सकों के अनुभूत योगों का संग्रह करता हूं।

इसी से लघुत्रयी में इसका स्थान हैं। शार्ङ्गधर पद्धति में चिकित्सा सम्बन्धी उल्लेख बिलकुल नहीं है। इसमें लोहे पर पानी चढ़ाने (Tempering) का एक योग दिया है। जिसमें पिप्पली, सेन्धानमक कूठ को गो मूत्र में पीस कर लेप कर लोहे को अग्नि पर तपा लालकर पानी में बुझाना चाहिये इसी को सुश्रुत में पायना कहते हैं।

शार्ङ्गधर संहिता तीन खण्डों में है, पहले खण्ड में परिभाषा औषध लेने का समय, नाड़ी परीक्षा, दीपन पाचन अध्याय कल्कादि विचार सृष्टिक्रम और रोग गणना के सात अध्याय हैं मध्यम खण्ड में क्वाथ, फाण्ट, हिम, कल्क, चूर्ण, गुग्गुल अवलेह, स्नेह, आसव, धातुओं का शोधन-मरण रस शोधन मारण तथा रसोपयोग हैं, तीसरे खण्ड में स्नेह पान विधि स्वेद, वमन-विरेचन, वस्ति, निरुह वस्ति, उत्तर वस्ति नस्थ कवल आदि की व्याख्या है।

शार्ङ्गधर संहिता पर दो टीकायें प्रकाशित हुई है ये टीकायें संस्कृत में हैं। इनमें एक आढमल्ल की बनायी दीपिका है दूसरी गूढ़ार्थ दीपिका है जो काशी राम वैद्य द्वारा रचित है।

शार्ङ्गधर संहिता के हिन्दी, गुजराती, बंगाली और मराठी में अनुवाद हुये हैं।

भाव प्रकाश

शार्ङ्गधर, बंगसेन, बृहद्योग तरङ्गिणी के पीछे भावप्रकाश ही हेतु, लिङ्ग, औषध रूप में सम्पूर्ण चिकित्सा का ग्रंथ है। लधुत्रयी में इस का स्थान होने से इसका प्रचार अधिक हुआ भाव प्रकाश के कर्ता भाव मिश्र ने अपने पिता का नाम श्री मिश्र लटक तनय कहा है। इससे अधिक

अपना परिचय नहीं दिया गणनाथ सेन इन्हें काव्य कुन्ज (कन्नौज) का कहते हैं भाव प्रकाश ग्रन्थ में फिरग रोग, चोप चीनी, शीतला आदि का वर्णन मिलता है। फिरंगी पोर्चुगीज भारत में पन्द्रहवीं शती में आये थे परन्तु उत्तर भारत में इनका सम्बन्ध १६वीं शती में हुआ। इनके कारण जो नया रोग यहाँ उत्पन्न हुआ उसका नाम भाव मिश्र ने फिरंग रखा भाव प्रकाश की एक प्रति १५५८ ई० की है अतः इनसे पीछे का यह ग्रन्थ नहीं है।

भाव प्रकाश के भी पूर्व खन्ड, मध्य खण्ड और उत्तर खण्ड ये तीन खण्ड हैं। उत्तर खण्ड वद्धतं छोटा है। पूर्व खण्ड तथा मध्यम खण्ड प्रथम तथा द्वितीय दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में आयुर्वेद के प्रवर्तक अश्विनी कुमार से प्रारम्भ कर सृस्टिक्रम गर्भ प्रकरण. दोष धातु वर्णन दिन चर्या ऋतु चर्या आदि विषय देकर अन्त में वनस्पतियों का वर्णन है। दूसरे भाग में मान परिभाषा धातुओं का मारण; पंचकर्म विधि है। मध्यम खण्ड में ज्वरादि रोगों की चिकित्सा और उत्तराखण्ड में बाजीकरण अधिकार है। भाव प्रकाश की लिखी दूसरी पुस्तक 'गुण रत्न माला' है इसकी एक हस्तलिखित प्रति इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में है। इसके अतिरिक्त १६वीं सदी में टोडरानन्द, टोडरमल की लिखी, १७वीं शताब्दी में योग चिन्ता मणि हर्ष कीर्ति सूरिकी लिखी और वैद्य जोवन लोलिम्बराज का लिखा मिलते हैं।

———

रस विद्या रसशास्त्र

आयुर्वेद में दो परम्पराओं का सामान्यतः उल्लेख है, वेद की परम्परा में रुद्र को प्रथम वंद्य कहा गया है। आयुर्वेद ग्रन्थों की परम्परा में ब्रह्मा आयुर्वेद का प्रथम उपदेष्टा है, अतः रस शास्त्र में शिव को उपदेष्टा कहा गया है वेदों का सम्बन्ध भी ब्रह्मा से ही है, रुद्र शिव की जो कल्पना

पुराणों में है, वह अशुचित्व पूर्ण है इसलिए अपवित्रता से सिद्ध होने वाले तत्वों का सम्बन्ध शिव के साथ जोड़ा गया है। इनमें औषधि भी सिद्ध सम्पत् देती हैं। इसी सम्पत् का सम्बन्ध तन्त्र से है शेष वस्तुओं की प्राप्ति का सम्बन्ध मन्त्र से है। इस प्रकार हिमालय पर तप करके ऋषियों ने जो सिद्धि या सम्पत् प्राप्त की थी उसी प्रकार की सिद्धियाँ श्मशान में पुर्दे के ऊपर बैठकर प्राप्त करने वाले भी हुये हैं। अतः जहाँ तक सिद्धियाँ प्राप्त करने का सम्बन्ध है दोनों ने ही सफलता पायी भले ही फल में भेद हो श्मशान में बैठ कर सिद्धि प्राप्त करने वाले प्रबोध—चन्द्रोदय नाटक में सोम सिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। वह मनुष्य की अस्थियों की माला धारण कर श्मशान में वास करता था। इस प्रकार राजशेखर विरचित कपूर मंजरी में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है।

सिद्ध सम्प्रदाय या नाथ सम्प्रदाय :---

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' नाम से एक पुस्तक लिखी है, उसमें सिद्धों के विषय में विस्तार से उल्लेख है। रस शास्त्र का आदि कर्ता जिस नागार्जुन को कहा जाता है वह भी इन्हीं चौरासी सिद्धों में से एक था इससे रसशास्त्र का विकास तथा समय स्पष्ट हो जाता है। साथ ही अल्वरुनीका भी सिद्ध सम्प्रदाय के होने का उल्लेख है अल्वरुनी ११वीं शताब्दी में भारत आया था। हठ योग प्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों में प्रथम आदि नाथ है जो स्वयं शिव रूप ही है।

हठयोग प्रदीपिका में नाथ पंथ के सिद्ध योगियों के नाम दिये हैं, उनमें मन्थान धैरव, काक चण्डीश्वर, भैरव और गोरख नाथ नाम भी है। महार्णव तन्त्र में दिये हुये नौ ग्रन्थों में नागार्जुन का नाम है।

समय—नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ और मत्स्येन्द्र नाथ सम्बन्धी कई कहानियाँ प्रचलित हैं। इन सबका निष्कर्ष निकालते हुये द्विवेदी जी ने लिखा है कि मत्स्येन्द्र नाथ गोरख नाथ के गुरु थे और जालन्धर नाथ के नुपा के गुरु थे। राहुल साँस्कृत्याटा की सूची में मीनपा की मत्स्पेन्द्रनाथ का पिता

कहा गया है जिनका समय ९वीं शताब्दी है। ११ शताब्दी में अल्वरूनी जब भारत आया था उसने रस विद्या और रसायन विद्या में अन्तर माना है रस विद्या को इन्द्रजाल से भिन्न बताया, उसने विक्रमादित्य और व्याडि की, राजा वल्लभ और रंक फल विक्रेता की, धारा नगरी के राजमहल में चाँदी के टुकड़े की कहानी देकर सोना चाँदी बनाने का उल्लेख किया है।

(अदवरुनी का भारत, भाग २ पृ० ११०)

ज्यायसी के पद्भावत में कई स्थानों पर रसायन विद्या की उल्लेख है। स्पष्ट है कि रसायन या रस विद्या का प्रारम्भ ७वीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था नवीं दसवीं शताब्दी में उसका कुछ विकास हुआ और १६वीं शताब्दी तक पूर्ण विकास हो चुका था।

नागार्जुन नाम से बहुत से विद्वान हुये है, कक्षपुट, योगशतक, तत्व प्रकाश आदि कई ग्रन्थों में कक्षपुट आदि ग्रन्थों का प्रणेता नागार्जुन कहा गया है नागार्जुन कृत चिता नन्द पटीयसी नामक ताड़ पत्र पर लिखी एक पुस्तक वैद्यक विषय की तिब्बत के गीम मठ (गाँवठ) में है। सम्पूर्ण इतिहास को देखने पर यही निश्चय होता हैं कि ८वीं शताब्दी में सरहपा सिद्ध हुये हैं जिनका नागार्जुन भी एक शिष्य था रससिद्धों में जिस नागार्जुन का उल्लेख है वह इसी शताब्दी का है।

रस विद्या के ग्रन्थ

रस रत्नाकर यारसेन्द्र मंगल--रस विद्या का प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थ जिसे नागार्जुन का बनाया कहा जाता है रस रत्नाकर या रसेन्द्र मंगल है। इसमें रासायनिक विधियों का वर्णन नागार्जुन, मांडव्य वटयक्षिणी, शालिवाहन तथा रत्नघोष के सम्वाद रूप में कहा है। धातुओं के शोधनार्थ विधियां इसमें वर्णित हैं, जैसे गन्धक, दरद, माक्षिक आदि का शोधन माक्षिक

से ताम्र प्राप्त करना । पारद का नाम रस है, इस ग्रन्थ में पारे से धातुओं को बद्ध करने की विधि है जैसे—

जम्वीर जेन नवसार धनाम्ल वर्गः क्षाराणि पचलवणाग्नि कटुत्रपंच शिग्रूदकं सूरमि सूरण कन्द एभिः समर्दितोरसनृपश्चरतेष्ट लोहान् नागार्जुन लिखित एक दूसरा ग्रन्थ आश्चर्य योग माला भी है इसके ऊपर जैन श्वेताम्बर साधु गुणाकार की टीका है।

रस हृदय तन्त्र—रसेन्द्र मंगल की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक व्यवस्थित और सम्पूर्ण है। यह आयुर्वेद ग्रन्थमाला में यादव जी त्रिक्रम जी आचार्य ने प्रथम छपाया था, पुन. लाहौर से जयदेव विद्यालंकार की देखरेख में प्रकाशित हुआ। सर्वदर्शन संग्रह में माधवाचार्य ने रस हृदय तन्त्र का नामोल्लेख कर इसमें से प्रमाण भी उद्धधृत किये हैं। १३वीं शती के रस रत्न समुच्चय में रस सिद्धों की गणना के साथ गोविन्द का नाम आता है। इसलिये गोविन्द इसी ग्रन्थ का कर्ता होना चाहिये किन्तु यह निश्चित नहीं हो सका है।

रसार्णव--माधव ने सर्व दर्शन संग्रह में रसार्णव का वर्णन किया है रसार्णव १२वीं शदी का ग्रन्थ है, यह तन्त्र सामान्य रूप से पार्वती परमेश्वर संवाद है, इसके विभागों का नाम पटल है चौथे पटल में रसकर्म के उपयोगी एवं उपरस लौहे आदि में काम आने वाले कांजी, विड़, लौह यन्त्र खल्व कोष्टिका, मिट्टी के यंत्र, मूशल, ऊखल, आदि उपकरणों का वर्णन है सत्व-पातन विधि का उल्लेख भी है।

रसेन्द्र चूड़ामणि

इस ग्रन्थ का कर्ता सोमदेव है। यह भगवद् गोविन्द पाद के पीछे और रस रत्न समुच्चय के कर्ता से पहले हुआ है। सोम देव पुखर महावीर

वंश का था इसलिये सोमदेव का समय १२-१३वीं सदी के बीच का होना चाहिए। इस ग्रन्थ में रस पूजन रसशाला—निर्माण, परिभाषा, मूषा, पुट, यन्त्र, रस, महा रस उपरस, साधारण रस, रत्न धातु, पारद के अठ्ठारह संस्कारों का वर्णन है।

रस प्रकाश सुधाकर--यह ग्रन्थ आयुर्वेद ग्रन्थ माला में छपा था इसके कर्ता श्री यशोधर हैं, यशोधर सुजानगढ़ (सौ राष्ट्र) के रहने वाले गौड़ ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पदम नाभ था।

रस राज लक्ष्मी--इस पुस्तक की प्रधानता इसलिये है कि इसमें पिछले ग्रन्थों के लेखकों का उल्लेख हैं, विशेषत: रसार्णव काक चण्डीश्वर नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द: दामोदर, वासुदेव, भगवत् गोविन्द पाद राज लक्ष्मी का कर्ता विष्णु देव राजा, बुक्क का राजवैद्य था बुक्क का समय १३५४-१३७१ई० है, अत: यह ग्रन्थ १४वीं शती का होना चाहिये।

रसेन्द्रसार संग्रह—यह ग्रन्थ महामहोपाध्यक्ष गोपाल भट्ट का बनाया हुआ बहुत सी पुस्तकों के आधार पर संग्रहीत है, यह ग्रंथ १३वीं सदी का होना चाहिये, इसमें रसकर्पर की बनावट लिखी है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पारद का शोधन, पातन, वोधन, मूर्च्छन बादि गन्धक, वैक्रान्त, अभ्रक ताल, मन:शिला आदि का शोधन भारण दिया गया है। बंगाल में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचलन है।

रस रत्न समुच्चय--इसका कर्ता वाग्भट है, अष्टाङ्ग संग्रह के कर्ता वाग्भट के समान इसके पिता का नाम भी सिंह गुप्त है, इसी नाम साम्य से पुराने वैद्य सबको एक मानकर तीनों ग्रन्थों का कर्ता एक ही मानते है।

रस रत्न समुच्चय में चपेटी और सिंह ली राजा का उल्लेख है। इस दृष्टि से तथा अगले पिछले सम्बन्धों से डा० प्रफुल्ल राय इसको १३वीं सदी की रचना मानते हैं। वाग्भट नामक और भी कई विद्वान हुये हैं, जैसे भागवट मालवेन्द्र का अमात्य नेमीकुमार का पुत्र वाग्भट

कोशकर्ता, रस रत्न समुच्चयकर्ता वाग्भट लघुजातक कर्ता आदि, रस रत्न समुच्चय के प्रथम ११ अध्यायों में रसोत्पत्ति, महारसों का शोधन उपरस साधारण रसों का शोधन आदि रसशास्त्र सम्बन्धी विषय है शेष भाग में ज्वरादि रोग रसयोग प्रधान औषधियाँ हैं। रसशाला निर्माण का वर्णन भी है ।

काश्यप संहिता अथवा 'वृद्धजीवक तन्त्र

काश्यप संहिता अथवा वृद्धजीवक तन्त्र नामक एक ग्रन्थ नैपाल के राजगुरु पं० हेमराज ने सन् १९३८ में श्री यादव जी के साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया है, इसमें २४० पृष्ठ का एक विस्तृत उपोद्धात है, इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सम्पूर्ण जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय कौमार मृत्य है। इसकी परम्परा भी चरक सुश्रुत की भाँति ब्रह्मा से प्रारम्भ होती है। और इन्द्र तक समान है। इस ग्रंथ के कर्ता कश्यप है। कश्यप के विषय की जानकारी इसी संहिता के कल्य-अध्याय में मिलती हैं।

उसके अनुसार दक्ष यज्ञ को दिध्वन्स होने से देवता लोग भय के कारण इधर उधर भागने लगे उनके भागने से दैह्निक तथा मानसिक सब रोग उत्पन्न हुये, यह अवस्था सतयुग और त्रेता के सन्धिकाल की है। तब लोगों की हित कामना से महर्षि कश्यप ने अपने ज्ञान से पितामह की आज्ञा द्वारा इस तन्त्र को बनाया था।

कश्यप—

वैदिक काल से लेकर चरक संहिता तक कश्यप और काश्यप दोनों नाम सुने जाते हैं। चरक संहिता में कश्यप नाम दो स्थानों पर आया है, साथ ही मारीचि कश्यप तथा मारिचि काश्यपों यह दो पाठ भेद भी मिलते हैं, इस प्रकार भारद्वाज ऋषि की भांति कश्यप शब्द भी ऋषि और गोत्र दोनों अर्थों

में प्राचीन काल से मिलता है। उपलब्ध काश्यप संहिता के प्रारम्भ और अन्त में "इतिह स्माह भगवान कश्यप इन वाक्यों में कश्यप का उल्लेख है।

चरक संहिता में काश्यप संहिता के कुछ वचन समान रूप में मिलते हैं उदाहरण के लिये गर्भ के आठवें मास में ओज अस्थिर रहता है, इस कारण गर्भ के आठवें मास की गणना नहीं की जाती यह वर्णन दोनों ग्रन्थों में समान है, इसके अतिरिक्त महाभारत में कश्यप नाम आता है। उल्हण ने भी कश्यप की चर्चा की है। अष्टाङ्ग हृदय तथा संग्रह में दो योग काश्यप के नाम से मिलतें हैं। प्राचीन रावण तन्त्र में भी काश्यप और वृद्ध काश्यप का नाम आता है पं० हेम राज जी ने ज्वर समुच्चय नामक ग्रन्थ का उल्लेख इस प्रस्तावना में किया है। उनके अनुसार उक्त ग्रंथ की प्रति सातवीं या आठवीं शती की है, और इसके बहुत से श्लोक काश्यप संहिता से मिलते हैं, इसलिये उसकी रचना और भी प्राचीन है।

———

निघण्टु और भैषज्यकल्पना

औषधि द्रव्यों की गुण विवेचना चरक-सुश्रुत काल से ही प्रचलित थी। उस समय यह ज्ञान एक विशेष रूप में था, संहिता ग्रंथों में गुण दोष की विवेचना मुख्यतः अन्नपानीय विषय तक हीं सीमित रही है। निघण्टु क्रम से द्रव्यों का उल्लेख उपलब्ध निघण्टुओं में सर्वप्रथम धन्वन्तरीय निघण्टु में मिलता है, धन्वन्तरि आयुर्वेद के उपदेष्टा हैं इसीलिए उनके नाम पर यह निघण्टु बना वैसे धन्वन्तरि का इस ग्रंथ के साथ कोई सम्बन्ध नही है, वैद्यक निघण्टुओं में चक्रपाणिदत्त का बनाया द्रव्य गुण संग्रह भी प्राचीन है। चरक सुश्रुत की भांति इसमें भी धान्यवर्ग, माँसबर्ग शाकवर्ग, लवणादि वर्ग फल, जल, क्षीर, तैल, इक्षु वर्ग का उल्लेख है औषधिवर्ग का वर्णन नहीं है।

निघण्टु क्रम—

इस समय प्राप्त होने वाले निघण्ट्र बहुत कम है। इनमें मुख्य इस प्रकार हैं, (१) धन्वन्तरीय निघण्टु (११५० ई०)

(२) पर्यायरत्नमाला (७०० ई०) (३) चक्रपाणि दत्त की शब्द चंद्रिका (१०४० ई०)

(४) सूरेश्वर या सूरपाल का शब्द प्रदीप। (५) हेमचंद्र का निघण्टु शेष (१०८८-११७२) (६) मल्लिनाथ की अभिधान रत्नमाला या सद्दशनिघण्ट्र (७) मदनपाल का मदन विनोद (१३७४) आदि इन सब में धन्वन्तरीय निघण्ट्र को छोड़कर शेष सब में रत्नमाला प्राचीन है।

शोढ़ल निघण्टु—

धन्वन्तरि निघण्टु के बाद यह महत्वपूर्ण निघण्ट्र है, वैद्य शोढल का समय १२हवीं शताब्दी है। इसमें वनस्पतियों की पहचान भी बताई गई हैं।

वैद्य रूगनाथ जी इन्द्र जी ने लिखा है कि धन्वन्तरि निघण्टु में यास एक ही लिखा है किन्तु शोढल ने दो यास लिखे हैं।

एक दुरालभा और दूसरा जवासा। इसी प्रकार खदिर भी दो हैं एक खदिर दूसरा विद्खादिर।

मदन विनोद निघण्टु--

डा० भाण्डार कर ने मदनपाल के मदन विनोद निघण्टु के लिए १४वीं सती में बनने का अनुमान किया है, डा० राजेन्द्र लाल मित्र और पं० विश्वेश्वर नाथ रेऊ इस निधण्ट कर्ता मदनपाल को कन्नौज के गहड़बार वंश का राजा मानते हैं. गहड़बार वंश का राज्य ११०० से ११९४ ई० तक रहा चन्द्र गहड़बार का पोता गोविन्द चन्द्र इसका पुत्र विजय चन्द्र विजय चन्द्र का पुत्र जयचन्द्र हुआ, जयचन्द्र ११९४ ई० में महमूद के साथ युद्ध करते हुये मारा गया था (इतिहास प्रवेश) परंतु इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता मदन पाल के पूर्वजों के नाम कन्नौज के मदन पाल के नामों से भिन्न हैं निघण्टुकार ने लिखा कि मदन पाल काच्छ का राजा था, यह प्रदेश यमुना किनारे

दिल्ली के उत्तर में था रवक वंश के राजाओं में रत्नपाल, भरणपाल, सहज पाल और उसका भाई मदनपाल हुआ। मदनपाल निघण्टु की रचना धन्वन्तरि निघण्टु से मिलती है। इसमें द्रव्यों की संख्या अधिक है अंतिम मिश्र का अध्याय में दिनचर्या, ऋतुचर्या भी कही है, मदनपाल कृष्ण भक्त थे क्योंकि प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में कृष्ण की स्तुति इस ग्रंथ में है।

राज निघण्टु या अभिधान चिन्ता मणि--

इसके कर्ता नरहरि ने अपने को कश्मीर देशवासी बताया है। नरहरि अमृतेशानन्द के शिष्य और शिव के भक्त थे, ग्रन्थ कर्ता ने कहा है कि धन्वन्तरि, मदन अमर कोष आदि से यह निघण्टु बनाया है, राज निघण्टु १५वीं शताब्दी के आसपास बना। इसमें वनस्पतियों के नाम अधिक हैं और कर्नाट की महाराष्ट्रीय भाषा के प्रचलित नाम भी हैं। जो सुनकर या पूछकर लिखे गये होंगे क्योंकि लेखक स्वयं कश्मीर का रहने वाला है।

राज बल्लभ--

राज बल्लभ कृत द्रव्य गुण संग्रह है, इसके पाँच अध्यायों में प्रमातादि आह्निक कृत्यों की चर्चा है, छटे अध्याय में औषधियों के गुण संक्षेप में बताये गये हैं; विरजाचरण गुप्त की मान्यता है कि राजबल्लभ देश का निवासी था अर्थात् बंगाली था क्योंकि इस ग्रंथ में मछलियों के भेद वर्णित हैं। मछली खाने का रिवाज कान्य कुन्जों में भी है, इनका नाम भी कान्य कुजों जैसा है। इसलिए इनका पूर्वी उत्तर प्रदेश का होना भी सम्भव है।

भाव प्रकाशान्तर द्रव्यगुण संग्रह--

भाव प्रकाश में वर्णित द्रव्य गुण संग्रह चिकित्सा दृष्टि से विशेष महत्व का न होने पर भी उसी का पठन पाठन अधिक प्रचलित है, इसमें कुछ नई औषधियों का भी समावेश है यथा चोप चीनी, भाव प्रकाश के समय इस देश में रस चिकित्सा का प्रचार हो गया था इसीलिये रससिन्दूर, हिंगुल, रसकपूर आदि योग, फिटकरी, नौसादर, खार्पर मन शिला आदि का शोधन विधि पूर्वक लिखा है, साथ ही भाव प्रकाश में द्रव्यों का वर्गीकरण विशेष प्रकार से किया गया है। भाव मिश्र १६वीं शदी में हुये है।

वैदिक निघण्टु--

वेद में २६० वनस्पतियों का उल्लेख है इनमें १३० वनस्पतियों का तो आयुर्वेद की वनस्पतियों के साथ पूर्ण समन्वय है,

सुश्रुत में वनस्पतियों की संख्या ३८५ है, चरक में लगभग ४०० वनस्पतियाँ हैं।

कैमदेव निघण्टु--

यह निघण्टु लाहोर से प्रकाशित हुआ है। इसका अधिक प्रचार नहीं हुआ उसे पथ्यापथ्य निर्णय भी कहते हैं, संक्षेप में राजनिघण्टु के पश्चात् प्रसिद्ध एवं बड़ा भाव प्रकाश निघण्टु ही है।

भैषज्य कल्पना

कल्पना का अर्थ योजना है (कल्पनं योजन मित्यर्थः अरुण दत्त) अर्थात् औषधि रोगी को किस योजना से दी जाय इसके ज्ञान का नाम भैषज्य कल्पना है। कल्पना से क्या लाभ है? इससे थोड़ी औषध अधिक कार्य करती है, यह कार्य संयोग विघटन काल और संस्कार से होता है, इसके लिये कल्पना ज्ञान पीछे लगभग चौथी या पाँचवी सती में उत्पन्न हुआ, चूर्ण का प्रचार इससे पूर्व भी था किन्तु चूर्ण कल्पना सर्व प्रथम अष्टाङ्ग संग्रह में मिलती है, संग्रह के पश्चात् कल्पना की विस्तृत जानकारी शार्ङ्गधर संहिता में मिलती है वैसे चरक के कल्प स्थान में भी बमन विरेचन द्रव्यों की नाना प्रकार की कल्पनायें आयी है। कल्पना के अन्दर औषध संग्रह काल आदि पंच विध कषाय कल्पना का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त मात्रा विकार, संस्कार, औषध को अधिक दिन सुरक्षित रखने के लिये आसव-अरिष्ट की कल्पना, क्षार कल्पना, उपनाह प्रलेप, घृत; तैल, धूम्रवर्ती आदि विस्तृत जानकारी भैषज्य कल्पना में पायी जाती है।

अन्य देशों की चिकित्सा के साथ आयुर्वेद का सम्बन्ध

ग्रीक तथा भारत की चिकित्सा में समानता--

यूनानी और भारतीय चिकित्सा में जो अत्यधिक समानता है वह इसी बात को बताती है कि दोनों देशों की चिकित्सा का विकास भाषा के समान ही हुआ। दोनों देशों में त्रिदोष सिद्धान्त—बात, पित्त कफ से रोगोत्पत्ति मानी गई है। इन तीनों दोषों का नाम वेद में भी है, ग्रीक ग्रन्थकार ओस्कोर्डी में और उससे पूर्व वर्ती ग्रन्थकारों के औषध शास्त्र में भारतीय तत्व ढूंढे जा सकते हैं—उदाहरण के लिये पिप्पली, पिप्पली, भूल इलायची, तेजपाल, शोंठ, वच, गुग्गुल, आदि भारतीय औषधियां ग्रीक देश के चिकित्सा शास्त्र में बरती जाती थी।

त्रिदोषवाद की समानता को देखकर कई विद्वान ग्रीक से भारत में इस ज्ञान का आना मानते हैं जो पूर्णत: हास्यप्रद है। भारतीय बात पित्त, कफ का रूप चन्द्रमा, सूर्य और वायु के विसर्ग, आदान और विक्षेप का रूपान्तर है, इन तीनों का आधार शाँख्य का त्रिगुणवाद है जो भारत की अपनो उपज है।

पाँच भौतिक और धातु भौंतिकवाद दोनों का उल्लेख आयुर्वेद शास्त्र में मिलता है, हिपो क्रिटस न चातु भौंतिकवाद को एक पक्षीय मानकर उसका खण्डन किया है। सव प्रथम एम्पिडो क्लिस ने चातु भौंतिकवाद को जन्म दिया था एम्पिडोक्लिस का ईरान—भारत आदि समीप देशों में आना यहाँ दार्शनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना और ग्रीस में जाकर इन विषयों का प्रचार करना सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त दोनों देशों की चिकित्सा में जो समानतायें हैं, उन्हें डा० जौली ने अपनी पुस्तक "इण्डियन मेडिसिन" में दिखाया है। हिपोक्रेट की प्रतिज्ञा, जो आज भी मेडिकल कालेजों में चिकित्सकों को

दी जाती है, चरक संहिता के शिष्य अनुशासन से बहुत अधिक मिलती है। दोनों चिकित्साओं में ज्वर को आम, पाच्यमान और पक्व तीन अवस्थाये, शोथकी तीन अवस्थायें रोगों की साध्यासाध्यता का ज्ञान, चिकित्सक के लक्षण आदि अनेक बातों की समानता मिलती हैं।

प्राचीन मिश्र में चिकित्सा विज्ञान--

भारत और मिश्र का सम्बन्ध बहुत प्राचीन है, दक्षिण भारत में समुद्री मार्ग से व्यापारिक सम्बन्ध चलता आया है। प्रथम मिस्त्र और बेबी लान से और बाद में रोम राज्य के साथ यह सम्पर्क था कुछ भारतीय वस्तुयें, जैसे नील इमली की लकड़ी मलमल जिसमें ममी लपेटी जाती थी मिस्त्र की समाधियों में मिलि है। कुछ विद्वानों के विचार से बाईबिल में भी भारत के साथ प्राचीन व्यापार के प्रमाण उन वस्तुओं के नामो के रूप में मिलते हैं, जो उस समय केवल भारत से ही विदेशों को भेजा जाता था। इस प्रकार कुछ देशों में भारत से ज्ञान गया। भारत के समान मिस्त्र में लिङ्गपूजा, बैल का आदर, और देबीलोन में पृथ्वी की पूजा मिलती है।

तिब्बत का वैद्यक ज्ञान--

भारत का तिब्बत के साथ पुराना सम्बन्ध है। कुछ मूल संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद ८वी शदी में तिब्बती भाषा में हुआ था इसके पीछे कई ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ तिब्बत के आयुर्वेद ज्ञान का आधार भारतीय चिकित्सा मानी गई है (नवस्नायुशतानि, नव स्त्रोतासि सु०शा० ५।६) निदान में आयुर्वेद सिद्धान्त को ही माना गया है।

औषधियों में त्रिफला, मरिच, उत्पल, प्याज, शोठ, तज कूठ आदि का उल्लेख है, तिब्बत में सींग द्वारा रक्त मोक्षण पद्धति यन्त्र शस्त्रों का नाम पशुओं के नाम पर रखने का रिवाज गर्भ की लिंग परीक्षा पद्धति आदि बातें आयुर्वेद से मिलती हैं।

तिब्बती ग्रन्थों का मंगोल भाषा में भी अनुवाद हुआ है, हिमालय की लेपचा आदि जातियां तिब्बती चिकित्सा का व्यवहार करती है तिब्बत में

बौद्ध धर्म बहुत समय पूर्व फैल चुका था, इसके साथ वहाँ आयुर्वेद का पहुंचना सम्भव है महावंश में सारथ्य संग्रह नामक वैद्यक ग्रन्थ का उल्लेख है १३वीं शती का योगार्णव सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, सिंघली भाषा में जो आधुनिक वैद्यक ग्रन्थ मिले हैं तथा जो हस्तलिखित मिलते हैं उनका आधार भी भारतीय आयुर्वेद ग्रन्थ ही है।

वरमा–

सुश्रुत की ख्याति ९०० ई० में कम्बोज तक पहुंच चुकी थी परन्तु सुश्रुत द्रव्य गुण आदि का इस देश में वरमी भाषान्तर १८वीं शदी में हुआ है।

फारसी और अरबी सम्बन्ध--

चरक संहिता में वाल्हीक भिषक के रूप में काँकायन का नाम आता है सिद्ध योग संग्रह में पारसीक यवानी का उल्लेख है यह भारत से ईरान का सम्बन्ध सिद्ध करते हैं। मध्य काल में धातुओं का उपयोग अफीम का व्यवहार नाड़ी परीक्षा अरब से भारत में आया हींग आज भी हमको ईरान काबुल से मिलती हैं, मुसुलमानों के समय मुस्लिम हकीम स्वतन्त्र रूप में अपना धन्धा करते रहे उन्होंने भारतीय पद्धति को नहीं अपनाया अपितु वैद्यों ने इनसे कुछ लिया है, जैसे शर्बत, मुरब्बे, अर्क कल्पनायें हकीमों से ली गई हैं, अतः भारतीय चिकित्सा का सम्बन्ध यूनान से स्पष्ट है।

आधुनिक काल (१८३८ से)

अंग्रेजों का आधिपत्य १८४६ ई० तक समूचे भारत पर हो चुका था १८४७ में जब डलहौजी हार्डिन्ज का उत्तराधिकारी बनकर भारत में आया तो उसने कहा कि मैं हिन्दुस्तान की जमीन को समतल कर दूंगा, और आते ही वह खंडहरों की खुदाई में लग गया, इसने जो

समस्यायें सुलझाई उनसे स्वाधीनता के विपुल युद्ध की आग भड़की और १८५७ में वह फूट पड़ी इसकी विफलता से कम्पनी का शासन समाप्त होकर साम्राज्ञी का शासन समाप्त होगया। भारत में अंग्रेजी शिक्षा की नीव लार्ड मैंकाले ने रखी। इस शिक्षा पद्धति की नीव में उसका एक ही लक्ष्य था कि इस देश पर शासन करने का दिमाग तो इग्लैण्ड से आयगा परन्तु उसके हाथों के रूप में आदमी यहां तैयार किये जायेंगे उसने पाठ्यक्रम इतना जटिल रखा जिसमें उत्तीर्ण होना कठिन था। अत: शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध रहा। १८५४ में कम्पनी के उच्च अधिकारियों ने भारत में यूनिवर्सिटियों की आवश्यकता का अनुभव किया। तदनुसार १८५७ में कलकत्ता मद्रास और बम्बई में लन्दन के विद्या पीठों के नमूने पर विद्यापीठ बने। इस समय अपने राज्य की आवाज सुनने वाले व्यक्ति स्वामी दयानन्द हुये जिन्होंने इस शिक्षा पद्धति का विरोध किया इसी समय राजा राम मोहन एवं राम कृष्ण परमहंस सुधार वादी हुये, रामकृष्ण मिशन आज भी सेवा कार्य कर रहे हैं, दादाभाई नौराजी के अतिरिक्त बंगाल में राम मोहन राय एवं ईश्वर चन्द्र विद्या सागर उत्तर भारत में सर सैयद अहमद खाँ, महाराष्ट्र में गोपाल हरिदेशमुख आदि सुधारकों में हुये। यह समय देश में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का था। भारत जैसे विस्तृत देश के लिये बहुत बड़ी संख्या में आदमी इंगलैण्ड से आ नहीं सकते थे इसलिये काम चलाऊ आदमी पैदा करने के लिये यहां पर शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। यह शिक्षा जैसे अन्य क्षेत्रों में आरम्भ हुई उसी प्रकार चिकित्सा क्षेत्रों में भी प्रारम्भ हुई।

चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान देने के लिये बंगाल में मेडिकल कालेज १८३५ ई० में खोला गया इस नये कालेज में भारतीय पं० मधु सूदन गुप्त ने मृत देह पर पहला नस्तर लगाया था, गुप्त के इस साहसिक कार्य के लिये कलकत्ता के फोर्ड विलियम से तोप दागी गई थी १८३६ में मधु सूदन गुप्त ने सुश्रुत को पहलौं बार छपवाया।

आयुर्वेद के अध्यायन के साथ आधुनिक विज्ञान का संसर्ग तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन इसी समय से पुन: प्रारम्भ हुआ इसलिये श्री दुर्गा शंकर केवल राम शास्त्री ने आधुनिक समय का प्रारम्भ इसी समय से माना है।

चरक सुश्रुत के काल में भले ही आयुर्वेद की उन्नति हुई हो। परन्तु गुप्त काल के पीछे इसमें सहसा रुकावट आ गई। फिर भी प्राचीन संहिताओं का पठन पाठन तथा उनसे प्राप्त ज्ञान के आधार पर वैद्यक व्यवहार चलता रहा।

आयुर्वेद के ह्रास के कारण—

सातवीं आठवीं शती के पीछे देश में विद्या की अवनति प्रारम्भ हुई, इस ह्रास के अधिकतर कारण राजकीय थे — जैसे देश पर बाहरी आक्रामकों के आक्रमण होना, किसी भी प्रकार की राजकीय सहायता ना मिलना।

परन्तु मुख्य कारण यहाँ के वैद्य स्वयं थे, जो आज भी है, मुसलमान शासकों ने अंग्रेज चिकित्सकों से उपचार करवाया उनके अपने हकीम थे जो उसी देश की चिकित्सा करते थे, वैद्यों का जीवन आलसी हो गया उनमें शोध या ज्ञान की भावना समाप्त हो गई थी। पुनः वैद्यक व्यवसाय ब्राह्मणों के हाथ में रहा, उनको चीर - फाड़ में स्पर्शा स्पर्श आदि बातों का विशेष ध्यान रहा, जिससे इस ज्ञान में कमी हो गई, यह अवनति धीरे २ प्रारम्भ हुई, इसमें वैज्ञानिक बुद्धि और अच्छाई को ग्रहण करने की संकुचित वृत्ति, अभिमान भाव आदि कारणों से सत्रहवीं अठारहवीं शती में विद्या पूर्णतः क्षीण हो गई चिकित्सा का मूख्य स्थान हकीमों तथा डाक्टरों ने ले लिया आयुर्वेद प्रणाली उत्तर भारत में पूर्वी बंगाल में सुरक्षित रही दक्षिण में मालाबार को चीन में बनी रही, शस्त्र कर्म आदि विलय चिरकाल से उपेक्षित चले आ रहे थे। गुजरात, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान में शारङ्गधर, माधव निदान रह गया इस प्रकार ब्रिटिश शासन से ज्ञान के क्षेत्र में जो धक्का लगा, विशेषकर विज्ञान और चिकित्सा विषय में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ, १८३६ ई० में सुश्रुत का प्रकाशन हुआ था इसके पश्चात् चरक संहिता और दूसरे ग्रन्थ छपने प्रारम्भ हुये। इसी समय बम्बई में आयुर्वेद के ग्रन्थ प्रकाशित हुये, इसके पश्चात् इन ग्रन्थों का क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद होना आरम्भ हुआ, मराठी बंगाली हिन्दी अनुवाद विशेष रूप में हुये, इससे आयुर्वेद का प्रचार सरल हुआ संस्कृत की अपेक्षा क्षेत्रीय भाषाओं के अनुवाद अधिक बिकने लगी।

इस समय का विशेष साहित्य--

अट्ठारहवीं शती में कई पुस्तकें प्रारम्भ हुई जिनमें १—आतक तिमिर भास्कर कर्ता माधव, ३—भैषज्य रत्नावली कर्ता गोविन्द दास, कलकत्ता इसमें योगों का संग्रह हैं। ४—आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान कर्ता श्री कुञ्ज बिहारी लाल सेन गुप्त, कलकत्ता, ५—निघण्टु रत्नाकर कर्ता गोड बोले, बम्बई।

अंग्रेजी में भी कुछ पुस्तकें लिखी गई जिनमें उमेश चन्द्र दत्त, की लिखी पुस्तक मैटेरिया मेडिका आॅफ हिन्दूज। सर भगवत् सिंह जी का ए शार्ट हिस्ट्री आॅफ आर्यन मेडिकल साइन्स।

अविनाशचन्द्र कविरत्न का चरक का अंग्रेजी अनुवाद और कुन्जी लाल का सुश्रुत संहिता का अनुवाद मुख्य है।

इस प्रकार इस समय दो प्रकार के ग्रन्थ बने, एक संहिता ग्रन्थ जैसे आयुर्वेद विज्ञान, आयुर्वेद संग्रह, वैषज्य रत्नावली आदि। इन ग्रन्थों में पाश्चात्य चिकित्सा के विषय भी लिखे जाने लगे आयुर्वेद विज्ञान में प्लूरसी को उरस्तोप के नाम से लिखा है, यह प्रवृत्ति बीसवीं सदी में रस विषयक ग्रन्थों में पायी जाती है। श्री सदानन्द घिल्डियाल ने रस तरङ्गिणी में स्वर्ण लवण के नाम से गोल्ड क्लोराइड्, रजतनत्रित् (सिल्वर नाइट्रेट) आदि आधूनिक योगों को संस्कृत में छन्दोबद्ध किया है।

पाश्चात्य चिकित्सा की सहायता से प्राचीन ग्रन्थों के स्पष्टीकरण का प्रयास विषद रूप में श्री भास्कर गोविन्द धाणेकरने अपनी सुश्रुत संहिता में किया है। इस प्रकार कुछ ग्रन्थ पाश्चात्य विषय को लेकर संस्कृत या क्षेत्रीय भाषा में भी लिखा गया जैसे संस्कृत ग्रंथ कविराज गणनाथ सेन का प्रत्यक्ष-शारीरम् मुख्य है। श्री दामोदर शर्मा गौड़ ने अभिनव प्रसूतितन्त्र नाम से अपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में संकलित किया है, डा० मुकुन्द्र स्वरूप वर्मा का स्वास्थ्य विज्ञान भी है।

"इस युग के प्रतिष्ठित वैद्य"

जिस प्रकार प्रत्येक देश में अपनी चिकित्सा प्रणाली है, इसी प्रकार भारत के हर प्रान्त की अपनी चिकित्सा परम्परा है। यह परम्परा १८५६ से आज तक बंगाल में मिलती है। इस परम्परा का प्रारम्भ कविराज गंगाधर जी से मिलता है, इनके शिष्यों की परम्परा से यह आयुर्वेद ज्ञान अनेक शाखाओं में विभक्त होकर जयपुर, लाहोर, हरिद्वार, दिल्ली आदि स्थानों में फैला।

कविराज गंगाधर–

आपका जन्म बंगाल संबत् १२०५ (१८४६ वि० स) में जेंसोर जिले के भागुरा ग्राम में हुआ था आपने अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर १८ वर्ष की उम्र में राजशाही जिले के वेल धरिया नामक स्थान के विख्यात कविराज रमाकान्त सेन के पास आयुर्वेद पढ़ा था तीन वर्ष अध्ययन कर २१ वर्ष की उम्र में कलकत्ता में चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया, मुर्शीदाबाद में इन्होंने कासिम बाजार की महारानी की चिकित्सा की तो यह देखकर के पारिवारिक चिकित्सक हो गये इससे इनकी प्रसिद्धि हुई कि डा० के असाध्य रोगी भी इनसे चिकित्सा कराते थे, इनके पुत्र का नाम धरणीधर है इनके शिष्यों की परम्परा बहुत लम्बी है, तथा इन्होंने लगभग ७६ ग्रन्थ लिखे जिनमें ११ आयुर्वेद के हैं, चरक पर इनकी जल्प कल्प तरु व्याख्या का वर्णन पीछे हो चुका है। श्री गंगाधर जी की मृत्यु ८६ वर्ष की आयु में १४९२ विक्रमी सम्बत् में हुई।

श्री द्वारका नाथ सेन–

महामहोपाध्याय कविराज द्वारका नाथ सेन का जन्म १८४३ ईसवी में बंगाल के फरीदपुर जिले के खण्डरपारा में हुआ था इनका वंश चिकित्सा के लिए प्रख्यात था ये सात भाइयों में सबसे छोटे थे, इन्होंने मुर्शिदाबाद में श्री गंगाधर जी से आयुर्वेद पढ़ा १८७५ में इन्होंने हथुवा के महाराज तथा उदयपुर (मेवाड़) के राणा की चिकित्सा भारत सरकार के निमन्त्रण पर की थी वैद्यों में महामहोपाध्याय की उपाधि इन्हें १८७६ में सर्वप्रथम मिली थी इनकी मृत्यु १९०६ ई० में हुई, इनके बड़े पुत्र का नाम योगेन्द्र नाथ सेन है जो उस समय एम० ए० थे ये भी कलकत्ता में प्रसिद्ध वैद्य हुये।

श्री हारायण चन्द्र चक्रवर्ती

इनका जन्म पवना जिले के वकलिया ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कविराज आनन्द चन्द्र चक्रवर्ती था, पिता पुत्र दोनों गंगाधर के शिष्य थे, इन्होंने शवच्छेदन कर शारीर ज्ञान प्राप्त किया। जिससे ये सुश्रुत सम्बन्धी शल्य कर्म भी करते थे, आँखों की चिकित्सा में भी निपुण थे तथा आँखों का आप्रेशन भी करते थे इनकी मृत्यु १९३५ ई० में हुई, इन्होंने सुश्रुत पर व्याख्या टिप्पणी रूप में संदीपन भाष्य लिखा अपने जीवन में इन्होंने धन और यश दोनों कमाये राजशाही में इन्होंने एक आयुर्वेद विद्यालय भी खोला था।

श्री योगीन्द्र नाथ सेन–

इनका जन्म कलकत्ते में १८७१ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम महामहोपाध्याय श्री द्वारकानाथ सेन था इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की चिकित्सा का अध्ययन अपने पिता से ही किया था।

चरक संहिता पर इनकी चरकोपस्कार नामक सुन्दर व्याख्या लिखी है किन्तु यह अपूर्ण है, इन्होंने पथरिघाट कलकत्ता में एक पाठशाला भी चलाई जहां दूर-दूर से विद्यार्थी आयुर्वेद पढ़ने आते थे।

गरीबों के लिए इन्होंने गुप्त दवाखाना भी खोला, इनकी मृत्यु पहली जुलाई १९१८ में हुई।

श्री गण नाथ सेन–

आपका जन्म बंगाल में गढ़ प्रदेश के श्री खण्ड नामक स्थान में हुआ, यह वैष्णवों का प्रसिद्ध स्थान है यहाँ पर एक रघुनन्दन गोस्वामी वैष्णव थे इनके दौहित्र कुल में उत्पन्न गंगाधर वाराणसी में चिकित्सा करते थे, इनके दो पुत्र थे एक यज्ञेश्वर दूसरे कुन्ज बिहारी ने सुश्रुत का अंग्रेजी अनुवाद किया, श्री कुन्ज बिहारी की दो सन्तान थी ज्येष्ठ पुत्र केदार नाथ और कनिष्ठ विश्वनाथ, यही विश्वनाथ श्री गणनाथ जी के पिता थे, गणनाथ सेन का जन्म १९२४

सम्बत् में हुआ, आपने संस्कृत, दर्शन आदि का अध्ययन कर अंग्रेजी बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की १८९८ ई० में मेडिकल कालेज में प्रवेश कर १९०३ में उपाधि प्राप्त की इन्होंने प्रत्यक्ष शारीरम् और सिद्धान्त निदानम् लिखकर अपनी कीर्ति अक्षय बनायी, आपने अपने पिता के नाम पर विश्वनाथ विद्यापीठ आयुर्वेद के लिए चलाया ।

श्री विजय रत्न सेन–

इनका जन्म बंगाल के विक्रमपुर नामक स्थान में २० नवम्बर १८५८ ई० में वैद्य कुल में हुआ, इनके पिता का नाम कविराज जगच्चन्द्र सेन था १८ मास की आयु में इन्हें पितृ वियोग हो गया अतः इनकी शिक्षा-दीक्षा कलकत्ते में अपने मामा के घर रहकर हुई, इन्होंने साहित्य, व्याकरण, दर्शन तथा आयुर्वेद का अध्ययन कर चिकित्सा व्यवसाय से धन कीर्ति उपर्जित की, इनकी कीर्ति सुनकर जम्मू कश्मीर के महाराज ने चिकित्सा के लिए बुलाया आपने वनौषधि दर्पण नामक सुन्दर निघण्टु की रचना की ५२ वर्ष की आयु में १९११ में मृत्यु हो गई ।

श्री यामिनी भूषण–

आपका जन्म खुलना जिले के पायोग्राम में १८७९ ई० में हुआ था, पिता का नाम कविराज पंचाननरे था जो आयुर्वेद और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे यामिनी भूषण जी ने संस्कृत से एम० ए० तथा मेडिकल कालेज से १९०५ में एम० बी० बी० एस० उपाधि प्राप्त की इन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यवसाय कलकत्ता में प्रारम्भ किया और १९१६ ई० में अष्टाङ्ग आयुर्वेद कालेज की तथा चिकित्सालय की स्थापना की । इसका विस्तार १९२५ में महात्मा गांधी के हाथों उद्घाटन कराया । यहां सब प्रकार की सुविधा हैं और तीन सौ से अधिक विद्यार्थी शिक्षा लेते हैं, इन्होंने शालाक्य तन्त्र, प्रसूतितन्त्र, विषविज्ञान आदि कई उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित की । सन् ११२५ में ४७ वर्ष उम्र में आपका देहान्त हो गया अष्टाँग आ० कालेज के साथ आपका नाम जुड़ा हुआ है ।

श्री हरिरञ्जन मजुमदार–

कविराज हरिरञ्जन मजुमदार का जन्म कश्मीर में सन् १८८५ में हुआ था जहाँ महाराजा रणजीत सिंह और प्रताप सिंह जी के राज्यकाल में इसके पिता कविरत्न षष्टीचरण मजुमदार राज्य के गृह चिकित्सक थे वैसे इनके

पूर्वज चट गाँव (पू० पाकिस्तान) के रहने वाले थे बंगाल में साधारण शिक्षा समाप्त कर इन्होंने १९०८ में प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता से वनस्पति विज्ञान में एम०ए० किया। पश्चात कविराज उमाचरण भट्टाचार्य से आयुर्वेद पढ़ा। सन् १९२० में जब हकीम अजमल खां को हरिरञ्जन मजुमदार के बारे में मालूम हुआ तो उन्होंने दिल्ली में आ० तथा यूनानी तिब्बी कालेज के संचालन हेतु उन्हें बुला लिया। यहाँ पर ये १७ वर्ष तक आ० कालेज का संचालन करते रहे और दिल्ली म्युनिसपैलिटी में आयुर्वेद चिकित्सालय खुलवाने का प्रयत्न भी किया आजकल ११ आ० चिकित्सालय दिल्ली मु० बोर्ड के जनता की सेवा कर रहे हैं।

श्री अर्जुन मिश्र—

अर्जुन मिश्र का जन्म काशी में सम्बत् १९१० में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० भानुदत्त था जो मूल निवासी पंजाब में होशियारपुर जिले के थे, आपने संगरूर रियासत के वैद्य दिला राम जी से आयुर्वेद सीखा और चिकित्सा क्षेत्र काशी बनाया। आयुर्वेद प्रसार हेतु आपने, आयुर्वेद प्रबोधनी पाठशाला खोली जो आज अर्जुन विद्यालय के नाम से बनारस में है। आपकी मृत्यु १९७९ सम्बत् में हुई।

श्री सत्यनारायण शास्त्री

काशी के अगस्त कुण्डा मुहल्ले में १९४६ सम्बत् में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम बलभद्र पाण्डेय था, आप में बचपन से ही प्रतिभा का विकास था जिससे शीघ्र ही व्याकरण, दर्शन विषय में पाण्डित्य प्राप्त कर लिया। आयुर्वेद का अध्ययन श्री धर्मदास जी से किया आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यक्ष रहे, आपका नाड़ी ज्ञान चमत्कारिक है। चिकित्सा नैपुण्य के कारण आप राष्ट्रपति के चिकित्सक नियुक्त हुये, तथा पदम भूषण उपाधि से सम्मानित हुये हैं, आपके कई शिष्य हुये जिनमें मुख्य दामोदर गौड़, प्रियव्रत शर्मा, शिवदत्त शुक्ल तथा रमानाथ द्विवेदी हैं।

कविराज प्रताप सिंह जी--

आपका जन्म उदयपुर राज्य में १८९२ ई० में हुआ आपके पिता का नाम पं० गुमानीराम था। संस्कृत तथा अंग्रेजी का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर आप आयुर्वेदाध्ययन के लिये मद्रास चले गये वहाँ पर डी० गोपाल चार्लू महोदय से आयुर्वेद सीखा, कुछ दिन गणनाथ सेन के पास भी रहे। कुछ दिन काली कमली ऋषिकेष तथा पीली भीत में काम करके काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये वहाँ आप फार्मेसी सुपरिण्टेण्ड़ेण्ट तथा रस शास्क्ष-भैषज्य कल्पना के अध्यापक रहे। अन्त में आप भारत सरकार के स्वास्थ्य विभाग में परामर्श दाता के रूप में काम करते रहे। आपने कुछ ग्रन्थ लिखे जिनमें जच्चा और खनिज विज्ञान आदि हैं।

कविराज नरेन्द्र जी मित्र

आपका जन्म लाहोर में १८७४ ई० में हुआ था। १८८५ में इण्टर परीक्षा पास कर लाहोर मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया किन्तु अस्वस्थ होने से चिकित्सा कराने इन्दौर गये वहाँ अमृत लाल गुप्त से चिकित्सा कराकर स्वास्थ्य लाभ किया इससे आपकी आयुर्वेद के प्रति आस्था बढ़ी और वहीं रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया पीछे लाहौर आकर चिकित्सक कार्य करके अध्यापक भो रहे, आपने कई नये योगों का निर्माण किया रसतङ्गिणी के कर्ता सदानन्द शर्मा घिल्डियाल आप के ही शिष्य थे। आपके शिष्य जयदेव विद्यालंकार ने चिकित्सा कलिका की हिन्दी व्याख्या लिखी तथा भैषज्य रत्नावली का हिन्दी अनुवाद भी किया।

श्री यादव जी त्रिकम जी आचार्य

आपका जन्म सम्बत् १९३८ वि० में पोरबन्दर (काठियावाड़) में हुआ था आपके पिता श्री त्रिकम जी पोरबन्दर के राणासाहब के राज

वैद्य थे। विद्याध्ययन पोरबन्दर में हुआ १९४५ में बम्बई आकर व्याकरण, दर्शन, अरबी, फारसी सीखी हकीम रामनारायण जी से यूनानी तथा राजस्थान निवासी पं० गौरीशंकर जी से आयुर्वेद पढ़ा आपने १८९९ में माधव निदान की मधुकोश व्याख्या का संशोधन किया आयुर्वेद ग्रन्थ प्रकाशन का यह प्रयास जीवन भर चलता रहा आपने आयुर्वद दीपिका सहित चरक संहिता संशोधित कर निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित करायी। तथा श्री गणनाथ सेन के प्रत्यक्ष शारीर का गुजराती अनुवाद किया। इस प्रकार आयुर्वेद के कई प्रकाशन आपने कराये।

जामनगर में आयुर्वेद कालेज तथा रिसर्च कार्य प्रारम्भ कराने में आपका हाथ था, आज से १२ वर्ष पूर्व जामनगर में आपकी मृत्यु हो गई।

जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल--

आपके घर को वैद्यों का घराना कहा जाता है आपका जन्म सम्बत् १९३६ में फतेहपुर के एक डलीग्राम में हुआ था पिता का नाम पं० गया प्रसाद शुक्ल था कुछ समय के पश्चात् प्रदेश में प्रयाग समाचार के सम्पादक होकर प्रयाग में आये यहाँ से फिर बम्बई में वेङ्कटेश्वर समाचार पत्र में इन्हें बुलाया गया यहाँ पर जब ये वैद्य शंकर दास जी के सम्पर्क में आये तब इन्होंने आयुर्वेद को अपनाया सम्बत् १९६६ से प्रयाग में रह कर हिन्दी तथा आयुर्वेद की सेवा करते रहे आयुर्वेद महा सम्मेलन की नींव रखने में तथा प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन में आयुर्वेद को स्थान दिलाने का श्रेय आपको ही है। आपने १० से अधिक पुस्तकें रस, वीर्य आदि पर लिखीं।

————

डाक्टरों द्वारा आयुर्वेद की सेवा

डा० वामन गणेश देसाइ आप एक उच्च शिक्षा प्राप्त डा० थे बम्बई में अपना चिकित्सा कार्य करते थे, आपने औषधि संग्रह और भारतीय

रसायन शास्त्र दो पुस्तकें लिखी औषधि संग्रह उत्तम निघण्टु है, इसमें आयुर्वेद में काम आने वाली सभी औषधियों की नव्यमत से समीक्षा है, भारतीय रसायन शास्त्र में आयुर्वेद के खनिज द्रव्यों की तथा इसी सम्बंध के अन्य द्रव्यों की विवेचना है। पारद का अन्त: प्रयोग इङ्गलैण्ड में होता था यह आपकी दी हुई जानकारी विशेष महत्व की है, इस पुस्तक की भूमिका श्री दत्तात्रेय अनन्त कुलकर्णी एम० एस० सी० ने लिखी जो अत्युपयोगी है।

डाक्टर मुकुन्द स्वरूप वर्मा

आपका जन्म सन् १८९६ में सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में हुआ आपके पिता का नाम श्री गोविन्द स्वरूप था आप शिक्षित भटनागर कुल में उत्पन्न हुये। आपके पितामह बीकानेर में राज्य के वकील थे अत: आपकी शिक्षा बीकानेर भरतपुर में हुई, साहित्य में आपकी बचपन से रूचि थी १९१७ में बी०एस०सी० करके लखनऊ मेडिकल कालेज में प्रवेश लिया और १९२२ में सम्मान पूर्वक उपाधिग्रहण की, पश्चात् महामना मालवीय जी के निमन्त्रण पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आ गये और ६० वर्ष की अवस्था तक आयुर्वेद कालेज में प्रतिष्ठा के साथ कार्य किया आयुर्वेद की बात को बिना समझे अन्ध विश्वास तथा कवल पोथी में संस्कृत में लिखा है इसलिये स्वीकार नहीं करते थे, आपने आयुर्वद सम्बन्धी बड़ी-२ दस पुस्तकें लिखी आप उत्तम व्यवस्थापक, प्रबन्धक होने के साथ योग्य शल्य चिकित्सक भी थे, आपके योग्य शिष्यों में श्री पी०जे० देश पांडे एक कुशल शल्य चिकित्सक हैं। आपके द्वारा प्रस्तुत साहित्य—

१-मानव शरीर रहस्य　　२-स्वास्थ्य विज्ञान　　३-मानव शरीर रचना विज्ञान, (प्रथम भाग)　　४-संक्षिप्त शल्य विज्ञान　　५-स्वास्थ्य

प्रदीपिका तथा हाई स्कूल एवं इन्टर मिडियट के लिये भी कुछ स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं।

डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर

आप सतारा के रहने वाले थे चालीस दिन की पैदल यात्रा करके आप काशी आये थे आपने हिन्दू विश्वविद्यालय आयुर्वेद कालेज में लम्बे समय तक कार्य किया आपने जो साहित्य निर्माण किया वह अनुपम है, आपका सर्व प्रथम साहित्यिक कार्य सुश्रुत संहिता की हिन्दी व्याख्या है। इस पद्धति ने आपको आयुर्वेद कार्य में चमका दिया। इस पर आपने आयुर्वेद का जोरदार समर्थन करके व्याख्या लिखी। बाद नें आपने स्वतन्त्र साहित्य तैयार कर स्वयं प्रकाशन किया।

आपका प्रस्तुत साहित्य १. औपसर्गिक रोग—यह पुस्तक दो भागों में है। इसमें संक्रामक रोगों का विस्तृत वर्णन पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के आधार पर किया है। (२) रक्त के रोग ये तीनों पुस्तकें कार्य चिकित्सा के लिये प्रशंसनीय हैं।

(४) जीवाणु विज्ञान-—यह पैथलोजी की उत्तम पुस्तक हैं।

(५) स्वास्थ्य विज्ञान यह पुस्तक आयुर्वेदिक कालेजों में हाईजीन पढ़ाने के लिये उत्तम हैं (आप लम्बे समय तक उपरोक्त विद्यालय में सेवा कार्य करते हुये १९५७ में सेवामुक्त हुये।

डा० आशानन्द पंचरत्न--

आप पंजाब में डेरा गाजी खाँ के रहने वाले हैं, आपने लाहौर के मेडिकल कालेज से शिक्षा प्राप्त की और लाहौर में ही चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया आपको हिन्दी से प्रेम था। अध्यापन कार्य आर्य समाज की संस्था डी० ए० वी० कालेज लाहौर से प्रारम्भ किया यहां आप वाइस प्रिंसीपल के रूप में थे। अध्यापन करते हुये आपने छात्रों की कठिनाइयों को समझा और हिन्दी में साहित्य तैयार करना प्रारम्भ किया। बाद में आपकी नियुक्ति पोद

आयुर्वेदिक कालेज बम्बई में हो गई यहां आप प्रिन्सिपल तथा सुपरिंण्टेण्डेट के पद पर कालिज और चिकित्सालय में कार्य करते रहे फिर कुछ समय जाम नगर के आयुर्वेद कालेज में रहकर पीली भीत आयुर्वेद कालेज से प्रिन्सिपल हुये आपकी लिखी व्याधि विज्ञान, आधुनिक चिकित्सा विज्ञान तथा रोगी परीक्षा ये पुस्तकें हैं। इनमें आपने पाश्चात्य चिकित्सा के साथ आयुर्वेद चिकित्सा का भी निर्देश किया है।

डा० प्राण जीवन माणिक चन्द्र मेहता--

आपका जन्म काठियावाड़ जामनगर में हुआ। बड़े परिश्रम से आपने मेडिकल शिक्षा प्राप्त की बम्बई में एम०डी०एम०एस० दोनों उपाधि प्राप्त करने वाले सम्भवतः आप तीसरें व्यक्ति थे, आपने कुछ दिन हैदराबाद में सरकारी नौकरी का फिर बम्बई में सफलता पूर्वक प्रैक्टिस की वही पर आप को सम्पर्क श्री यादव जी त्रिक्रम जी से हुआ। बम्बई से आपको रामनगर की सेवा में चीफ मेडिकल आफिसर बनकर आये। यहाँ संस्कृत के विद्वानों के सम्पर्क से संस्कृत सीखकर चरक संहिता का तात्विक अन्वेषण किया। जाम नगर में जो स्नानकोत्तर अध्ययन का क्रम चला उसकी रूप रेखा यादव जी के साथ आपने बनाई, डा० मेहता की कार्यक्षमता अपूर्व है।

गो, अश्व और हस्ति आयुर्वेद

इस देश में गौ तथा अश्व का महत्व वैदिक काल से चला आ रहा है। बैलों तथा घोड़ों का उपयोग खेती तथा वाहन के लिये होता था। हाथी का उल्लेख ऋग्वेद में है सिन्धु घाटी में जिन पशुओं की मूर्तियाँ मिली हैं उनमें हाथी, बराह, सिंह और गाय की मूर्तियाँ है (हिन्दू सभ्यता-३३) हाथी का

उपयोग सेना राजा की सवारी में होता था बाद में हाथी घोड़ों का उपयोग सेना कार्य में होने लगा। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी गो—अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष के कार्यों की विस्तृत चर्चा है। इस एतिहासिक स्थिति में मनुष्यों के चिकित्सा शास्त्र की भांति पशु तथा वृक्षों तक की चिकित्सा का विकास हुआ।

अश्ववैद्यक---

इस सम्बन्ध का ग्रन्थ हयधोष के पुत्र शालिहोत्र ने बनाया था जो अपूर्ण रूप में मिलता है। इसके आठ स्थानों में अष्टांग अश्ववैद्यक का वर्णन है। परन्तु जों ग्रन्थ मिलता है उसका प्रथम स्थान खण्डित है। अश्ववैद्यक सम्बन्धी संस्कृत ग्रन्थ का 'कुआत उलनुल्क' नाम से १३८१ ई० में फारसी अनुवाद हुआ है, ऐसी ही एक पुस्तक का अनुवाद अरबी भाषा में शाह जहाँ के समय 'किताब उलबैवर्त' नाम से हुआ, तिब्बती भाषा में भी अनुवाद्र मिला है।

शालिहोत्र अश्वशास्त्र नाम का संस्कृत ग्रन्थ मद्रास के राजकीय पुस्तकालय में है गणरचित हस्तलिखित प्रति नेपाल के सूची पत्र में भी हैं। इसके अतिरिक्त दीपंकर का अश्ववैद्यक शास्त्र, भोज का शालिहोत्र, कल्हण विरचित शालिहोत्र समुच्चय की हस्तलिखित प्रतिलिपि भी मिली हैं।

इस दिषय क दो ग्रन्थ बंगाल की रायल एशिया टिक सोसाइटी, की ओर से प्रक.शित हुये हैं। जिनमें एक जयदत्त सूरिकृत अश्ववैद्यक है दूसरा नलकृत अश्व चिकित्सा।

महाभारत में नकुल ने विराट को अपना परिचय देते हुये अश्व-रक्षक ग्रन्थिक, तथा सहदेव ने अपने को गाय के विषय में विशेष जानकार बताया था। इसलिए नकुल के नाम से भी अश्व चिकित्सा ग्रंथ लिखा गया है। अश्व-चिकित्सा का प्रारम्भ सम्भवतः हस्ति चि० के साथ ईशा से तीसरी या चौथी शताब्दी पूर्व हुआ होगा। चरक संहिता में पशुओं क लिये वस्ति विधान वर्णित हैं (चरक सि० अ० ११)।

इस समय इस विषय के जो दो ग्रन्थ मिलते हैं उनमें विजयदत्त के पुत्र महा सामन्त जयदत्त सूरिकृत अश्व वैद्यक की हस्तलिखित प्रति १२२४ इ० की मिली हैं। इसमें अफीम का उपयोग है। नकुल कृत अश्व चिकित्सा में १८ अध्याय है नकुल ने कहा है कि शालि होत्रीय शास्त्र देखकर यह ग्रन्थ लिखा गया है, जयदत्त सूरि के ग्रंथ में घोड़ों की निदान-चिकित्सा का पूर्ण उल्लेख हैं औषधियाँ आयुर्वेदिक हैं।

पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद--

हस्त्यायुर्वेद के रचयिता पाल काप्य मुनि के सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है कि राजा दशरथ के समकालीन अंग देश के राजा लोम पाद ने पाल काप्य मुनि को हाथी वश में करने की विद्या सीखने के लिए बुलाया था। हस्त्यायुर्वेद एक विस्तृत ग्रन्थ है। यह पूना की आनन्दाश्रम सीरीज में छपा है, इसमें हाथियों के लक्षण, रोग और चिकित्सा, हाथियों को पकड़ने की कला तथा पालने का वर्णन है।

हस्त्यायुर्वेद में चार विभाग या स्थान है १. महा रोग स्थान २. क्षुद्र रोग स्थान ३. शल्य स्थान ४. उत्तर स्थान, इन चारों में १६० अध्याय और लगभग १८२ रोगों का वर्णन है।

हस्त्यायुर्वेद का समय निश्चित करना कठिन है, परन्तु हाथियों के पालने का उल्लेख महाभारत में मिलता है ईशा पूर्व चौथी शताब्दी के राजदूत मैगस्थनीज को भारत में हाथियों के पालने की जानकारी थी साथ ही उसे यह भी पता था कि हाथियों के आँख के रोग पर दूध का प्रयोग तथा ब्रण पर गर्म जल कुत्ते का माँस, आसव और घी का उपयोग औषध रूप में किया जाता था। कौटिल्य ने भी हस्ति चिकित्सकों का उल्लेख किया है अशोक के शिला लेखों से भी स्पष्ट है कि उसने अपने तथा पड़ोसी राज्यों में पशु चिकित्सा का प्रबन्ध किया था। अतः ईर्शा से, तीसरी सती पूर्व चिकित्सा प्रचलित होने का प्रमाण है।

अश्ववैद्यक तथा गजवैद्यक की भाँति गौवों की चिकित्सा सम्बन्धी कोई पुस्तक पृथक रूप में नहीं मिलती किन्तु चोदहवीं शती की शार्ङ्गधर

पद्धति में बकरी गाय आदि की चिकित्सा संक्षेप में लिखी मिलती है।

वृक्ष आयुर्वेद–

भारतीय संस्कृति में वृक्षों को संचेतन माना गया है जैसे।

"तम सावहु रूपेण वेष्टिता कर्म हेतुना।
अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुख दुःख समन्विता ।।

इसलिये इनकी भी चिकित्सा की जाती है। शार्ङ्गधर पद्धति में वृक्ष आयुर्वेद अथवा उपवन विनोद नाम का २३६ श्लोकों का एक प्रकरण मिलता है श्री गिरि जी प्रपन्न मजुमदार ने उपवन विनोद नामक वनस्पति सम्बन्धी पुस्तक लिखी है इसके अतिरिक्त राघव भट्ट, का वृक्षायुर्वेद नामक पृथक ग्रंथ भी दुर्गा शंकर शास्त्री के लिखे आधार पर है।

आयुर्वेद की उन्नति हेतु सरकार द्वारा कमेटियों का निर्माण

सर्व प्रथम १९४५ में भोर कमेटी का निर्माण हुआ।

भोर कमेटी ने स्वीकार किया कि समय तथा परिस्थितियों के कारण आयुर्वेदिक सिस्टम के विषय में सही सूचनायें प्राप्त नहीं हो सकी तब भी उसने कहा कि स्वास्थ्य और चिकित्सा की दृष्टि से आयुर्वेदिक चिकित्सा के प्रश्न का निर्णय राज्यों के ऊपर छोड़ देना चाहिये। उसकी ठोस सूचना यह थी कि सभी मेडिकल संस्थाओं में एक आयुर्वेद के इतिहास की चेयर स्थापित की जाय, इसके पीछे सन् १९४६ में स्वास्थ्य मन्त्रियों की बैठक हुई जिसमें गम्भीरता से विचार हुआ।

चोपड़ा कमेटी—

इस बैठक के अनुसार लेप्टीनेण्ट कर्नल आर० एन० चौपड़ा की अध्यक्षता में १९४६ ई० में एक कमेटी बनाई गई इसने सारे प्रश्न को नये सिरे से विचार कर १९४१ में एक रिपोर्ट सरकार को दी जिसमें २० से अधिक सुझाये थे।

इसके पश्चात् डा० सी० जी० पंडित की अध्यक्षता में एक दूसरी कमेटी बनायी गई इसको चोपड़ा कमेटी द्वारा निर्दिष्ट सूचनाओं को क्रियात्मक रूप देने का कार्य सौंपा गया इस कमेटी की सिफारिसों पर १९५२ में जामनगर में गवेषणा केन्द्र खोला गया।

दबे कमेटी—

केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् १९५४ के अनुसार श्री डी० टी० दबे की अध्यक्षता में १९५५ ई० में एक कमेटी फिर बनाई गई, इस कमेटी को शिक्षा स्तर तथा भारतीय चिकित्सा की प्रैक्टिस करने के नियम बनाने का कार्य सौंपा गया उसने भी अपनी रिपोर्ट सरकार को दी।

उडूप कमेटी--

भारत सरकार के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने डा० के० उडूप की अध्यक्षता में २९ जुलाई १९५८ में एक कमेटी बनाई, इसको निम्न प्रश्न विचारार्थ दिये गये।

(१) आयुर्वेद को उन्नत करने के लिये तथा इसमें सहायता देने हेतु गवेषणा के कार्य के तथा आयुर्वेदिक संस्थाओं का स्तर ऊंचा उठाने में केन्द्रीय तथा राज्यों की सहायता कहाँ तक सफल हुई।

(२) आयुर्वेद की शिक्षा एवं खोज में इस सहायता से कहाँ तक मदद मिली।

(३) आयुर्वेदिक औषध निर्माण के स्टैण्डर्ड, मात्रा तथा उसके निर्माण के ढंग में कहाँ तक उन्नति हुई।

(४) आयुर्वेद चिकित्सा कर्म तथा मान्यता के विषय में वस्तु स्थिति की जांच करना। इस कमेटी के सदस्यों ने सम्पूर्ण भारत की आयुर्वेदिक

संस्थाओं को जाकर देखा और स्थानिय अधिकारियों से विचार विमर्श करके वास्तविक स्थिति को समझने का यत्न किया रिपोर्ट में प्रत्येक प्रान्त की आयुर्वेदिक स्थिति का उल्लेख संक्षेप में तथा वहाँ की जो विशेषता उनको अच्छी लगी उसका उल्लेख किया। साथ ही प्रत्येक प्रान्त के कालेजों में क्या २ सुधार करना चाहिये यह भी बताया। इनकी विशेष सिफारिश थी कि आयुर्वेद की उन्नति के लिये प्राचीन और नयी पद्धतियों का मिश्रण आवश्यक है।

अन्त में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मन्त्री डा० सम्पूर्णानन्द जी ने उत्तरप्रदेश के आयुर्वेदिक कालेजों में बढ़ते हुये असन्तोष को देखकर एक कमेटी नियुक्त की थी। इसकी मिटिंग नैनीताल में हुई थी। इस कमेंटी में पं० शिव शर्मा, श्री दत्तात्रेयअनन्तकुलकर्णी, श्री हरिहरदत्त जोशी आदि सम्य थे। इसने कुछ सिद्धान्त निश्चिन किये किन्तु इस कमेटी के निर्णयों का स्वागत नहीं हुआ। विद्यालयों में प्रवेश संख्या कम हो गई। इसका मुख्य कारण पाठ्यक्रम था।

वास्तव में सरकार द्वारा नियुक्त कमेटियों से आयुर्वेद का कोई उद्देश्य पूर्ण हुआ है या नहीं यह तो सभी जानते है किन्तु आयुर्वेद में कुछ सभ्यता है तो यूरोप-अमेरिका जाकर उस पर मुहर लगा देनी चाहिए, वहाँ से मुहर लगने पर कोई इसका प्रतिवाद नहीं करेगा। उदाहरण के लिये खेल का सामान बनाने वाली एक कम्पनी (यू बेराय कम्पनी) इस देश में अपना सामान बना कर केवल मुहर लगाने के लिए भेजती थी वहाँ से मुहर लग जाने पर उसकी कीमत कई गुनी बढ़ जाती थी। यहाँ पर अंग्रेंज भी उस पर इङ्गलैण्ड की मुहर देखकर उसे खरीदते थे। यही बात आयुर्वेद के साथ है यूरोप की मुहर से डाक्टर बरतेंगे, उन्हें देख कर अन्य भारतीय भी उतरेंगे। इसलिये आयुर्वेद की उन्नति का सच्चा पथ यूरोप के विद्वानों की खरी परीक्षा है जहाँ पर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त शास्त्र के वचनों का कोई महत्व नहीं इसलिये आयुर्वेद की इस परीक्षा से डरने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि शुद्ध स्वर्ण आग में डालने पर शुद्ध रूप में ही सामने आता है।

आयुर्वेद के विषय में जो अत्रिपुत्र ने कहा है वह वास्तव में सत्य है कि यह आयुर्वेद जन कल्याण करने वाला है, इसको जानने वाला मनुष्य अर्थ को

जानने वाला विचारवान् और उत्तम चिकित्सक होता है। इस संहिता में जो है वही अन्यत्र मिलता है जो इसमें नहीं वह अन्यत्र भी नहीं, ऐसा कहने वाले ऋषि आत्रेय के वचनों के चारों ओर सीमा और परिधि नहीं खींचनी चाहिये। विश्वास के साथ परीक्षकों के सामने उपस्थित करने में अपना गौरव समझना चाहिये। इससे सत्य की परीक्षा होगी।

"यदिहास्तिदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित।"

विलुप्ततन्त्र और संहितायें

आयुर्वेद के आठ अङ्ग होते हैं। इन अङ्गों के पृथक २ तन्त्र बने थे। कुछ संहितायें जिस शाखा में बनी थीं उसी ऋषि के नाम पर प्रसिद्ध हो गई।

काम चिकित्सा सम्बन्धी तन्त्र–

१-अग्निवेश संहिता २-भेड़ संहिता ३-जंतुकर्ण संहिता ४-पाराशर संहिता ५-हारित संहिता ६-क्षारपाणि संहिता ७-खरनाद संहिता ८-विश्वामित्र संहिता ९-अरिन्द्र संहिता १०-अत्रि संहिता ११-मार्कण्डेय संहिता १२-आशिवन संहिता १३-भारद्वाज संहिता १४-भानुपुत्र संहिता।

शल्य चिकित्सा सम्बन्धी तन्त्र--

१-औषधेनव तन्त्र २-और भ्रतन्त्र ३-सौश्रुततन्त्र ४-पौष्कलावततन्त्र ५-शैतरणतन्त्र ६-बहसुश्रुततन्त्र ७-भोजतन्त्र ८-वृद्धभोजन ९-कृतवीर्यतन्त्र १०-करवीर्यतन्त्र ११-गोपुररक्षित तन्त्र १२-भालुकी तन्त्र १३-कपिलबलतन्त्र

शालाक्य सम्बन्धी तन्त्र--

१-विदेहतन्त्र २-निमितन्त्र ३-काँकायन तन्त्र ४-मालवतन्त्र गाँग्यतन्त्र ६-सात्यकि तन्त्र ७;शौनकतन्त्र ८-मद्रशौनकतन्त्र ९-करालतन्त्र १०-कृष्णातत्रे-तन्त्र ११-काल्यायतन्त्र १३-चक्षुष्यतन्त्र।

भूतविद्या सम्बन्धी तन्त्र--

१-अथर्व तन्त्र ।

काश्यप संहिता में रेवतीकल्प और रेवती ग्रह सम्बन्धी अध्याय इसी विषय से सम्बन्धित है ।

कौमार भृत्य सम्बन्धी तन्त्र--

१-वृद्ध काश्यप संहिता काश्यप का सम्बन्त्र अगदतन्त्र से है और वृद्ध काश्यप का कौमार भृत्य से ही सम्बन्ध है ।

२-काश्यप संहिता ३-सनक संहिता ४-लाटयायन संहिता ५-आलम्बायन संहिता ६-वृहस्पति संहिता ७-वशिष्ठ तन्त्र ।

रसायनतन्त्र--

१-पातञ्जल तन्त्र २-वशिष्ठ तन्त्र ३-माण्डव्य तन्त्र ४-व्याडि ५-नागार्जुन तन्त्र ६-भृगु तन्त्र ७-अगस्त्य तन्त्र ८-कपिञ्जल तन्त्र ।

बाजी करण तन्त्र–

कुचुमार तन्त्र (यह आधुनिक प्रतीत होता है) १९२२ में महामहोपाध्याय श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित ने इसे प्रकाशित किया है ।

आज हमारे सामने कार्यचिकित्सा सम्बन्धी चरक संहिता अष्टाङ्ग संग्रह शल्यचिकित्सा में सुश्रुत संहिता कोमारभृत्य विषय में जीवनतन्त्र या काश्यप संहिता ही अवशिष्ट है ।

।। समाप्त ।।

मुद्रक :
कुमार पेपर कन्वर्टिंग इन्डस्ट्री
डी-६ इन्डस्ट्रीयल इस्टेट,
रुड़की ।

मूल्य : १० रुपये